ग्रन्थकार

# वक्तव्य

'सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः।'

मनीषियों का कथन है कि हिये की आँखों के लिए दर्शनशास्त्र अमृताञ्जन का काम करता है। वे यहाँ तक कह गये हैं कि संयत चित्त से दर्शनशास्त्र का अध्ययन-मनन करते रहने से आत्मदर्शन होता है और आत्मदर्शन होने पर अखिल ब्रह्माण्ड-रहस्य प्रत्यक्ष हो जाता है। जिस दर्शनशास्त्र की ऐसी अमोघ शक्ति बतलाई गई है, वह सारा-का-सारा संस्कृत-भाषा में है। संस्कृत में पारङ्गत हुए बिना दर्शनशास्त्र का अनुशीलन और रहस्योद्घाटन सम्भव नहीं है।

दुर्भाग्यवश, आज बहुत ही कम लोगों को संस्कृत का पर्याप्त ज्ञान है। दर्शन का गूढ़ मर्म समझने और असंस्कृतज्ञ को सुबोध रीति से समझाने की यथेष्ट क्षमता रखनेवाले संस्कृतज्ञ तो हिन्दी-संसार में सम्भवतः कनिष्ठिकाधिष्ठित ही होंगे। अतः, दर्शनशास्त्र के निष्णात विद्वानों का यह कर्त्तव्य है कि वे स्वदेश में सबसे अधिक प्रचलित और सर्वतोऽधिक लोकप्रिय भाषा हिन्दी में दर्शनशास्त्र के तथ्यों को प्रकाशित करने के लिए उसका हृदय-पटल खोलकर रख दें, जिससे इस देश की जनता में जो स्वभावतः दार्शनिक रुचि है, उसका परिष्कार और परितोष हो।

इस पुस्तक के षड्दर्शनाचार्य लेखक ने अपने उसी कर्त्तव्य का पालन किया है। अब उनकी सफलता-असफलता का विचार दर्शनशास्त्रियों को करना है।

हम स्वयं दर्शनशास्त्र का ककहरा भी नहीं जानते, इसलिए पुस्तक के गुण-दोष के सम्बन्ध में कुछ भी लिखने के अधिकारी नहीं हैं। जो पाठक दर्शनानुरागी अथवा जो दर्शनशास्त्री हैं, वे ही इसकी विशेषताओं और त्रुटियों को परख सकते हैं।

यों तो, शास्त्र किसी के अ[illegible]िकार में नहीं होता। उसे मुट्ठी में कर लेना सहज काम नहीं है। गोस्वामी तुलसीदास ने [illegible]वान् रामचन्द्र के श्रीमुख से कहवाया है—

'सास्त्र सुचिन्तित पुनि-पुनि देखिअ,
भूप सुसेवित बस नहिं लेखिअ;
... ... ... ...
जुबती [illegible] नृपति बस नाहीं।' [ अरण्यकाण्ड ]

अतएव, लेखक ने जो कुछ लिखने का प्रयास किया है, वह कहाँ तक शास्त्रसङ्गत और सुधी-सम्मत है, इसका विचार अधिकारी सज्जन ही कर सकेंगे। स्वयं लेखक ने भी अपने प्राक्कथन में सहृदय सज्जनों से पुस्तकगत दोषों के सम्बन्ध में स्पष्ट निवेदन किया है।

हिन्दी में दार्शनिक साहित्य का अभाव नहीं है। कई अधिकारी दार्शनिकों ने अच्छी पुस्तकें लिखी हैं। दार्शनिक विचारों के प्रचारक और पोषक कुछ पत्र भी निकलते हैं। संस्कृतज्ञ विद्वानों ने भी हिन्दी में दार्शनिक विषयों को सरलता से समझाने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। हम नहीं कह सकते कि अब तक के प्रकाशित एतद्विषयक ग्रन्थों में इस पुस्तक का कैसा स्थान होगा। किन्तु, पुस्तक पढ़ चुकने पर ऐसी धारणा का उत्पन्न होना विस्मयजनक नहीं कि अनेक सुन्दर पुस्तकों के रहते हुए भी इसने हिन्दी के एक अभाव की पूर्त्ति की है।

लेखक महोदय अपनी इसी पुस्तक द्वारा हिन्दी-संसार में सर्वप्रथम पदार्पण कर रहे हैं। अतः, हिन्दी-पाठकों की जानकारी के लिए उनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दे देना आवश्यक प्रतीत होता है।

पण्डितजी का शुभजन्म बिहार-राज्य के शाहाबाद जिले में, विक्रमाब्द १९४२ में, हुआ था। इस समय आपकी अवस्था ७३ वर्ष की है। बाल्यावस्था में आपने अपने पूज्य पिता पं० रामजीवन पाठक और सेमरिया-ग्राम-निवासी पं० हरगोविन्द पाण्डेय से संस्कृत की आरम्भिक शिक्षा पाई थी।

युवावस्था में अपने पिताश्री के गुरु बिनगाँवा-ग्राम-निवासी पं० हरिप्रसाद त्रिपाठी से और उसके बाद उन्हीं के चचेरे भाई तथा उस समय के प्रकाण्ड नैयायिक पं० शिवप्रसादजी से आपको संस्कृत की उच्च शिक्षा मिली। उक्त नैयायिकजी से आपको टीका-ग्रन्थों के पढ़ने में विशेष सहायता प्राप्त हुई।

ग्रामीण पाठशालाओं की शिक्षा के बाद आप आरा-नगर के सुप्रसिद्ध शास्त्राचार्य पं० गणपति मिश्र के पास पढ़ने के लिए गये। महामहोपाध्याय पं० सकलनारायणशर्मा उक्त मिश्रजी के ही प्रथम शिष्य थे।

आरा-नगर में पाण्डित्य प्राप्त कर आप काशी चले गये। वहाँ के स्वनामधन्य विद्वान् महामहोपाध्याय पं० गङ्गाधर शास्त्री और पं० शिवकुमार शास्त्री से आपने यथेष्ट विद्या अर्जित की। काशी के तात्कालिक संस्कृतज्ञ-समाज में अपने दुराग्रह-शून्य शास्त्रार्थ के लिए आप विशेष प्रसिद्ध थे।

पटना की पण्डित-मण्डली के शिरोभूषण वृद्धवसिष्ठ आचार्य पण्डित हरिशङ्कर पाण्डेयजी को आप भी गुरुस्थानीय मानते हैं, जिनके सतत सत्सङ्ग और प्रसाद से आपकी शास्त्रीय उपलब्धियाँ सनाथ हुई हैं। इसका संकेत आपने अपने प्राक्कथन के अन्त में कर दिया है।

आप बिहार-संस्कृत-एसोसियेशन की कौंसिल के सदस्य हैं। इस समय आप चिरैयाटाँड़ (पटना) के संस्कृत-विद्यालय के प्रधानाध्यापक हैं। संस्कृत में लिखे आपके कुछ प्रकाशित निबन्ध बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। यथा—मोक्ष-मीमांसा, मायावाद, स्फोटवाद आदि। उपर्युक्त प्रथम दो निबन्ध बिहार-संस्कृत-समिति से पुरस्कृत हो चुके हैं और तीसरे में आपके स्वतन्त्र विचार व्यक्त हुए हैं।

आपने संस्कृत में दर्शन-सिद्धान्त-मञ्जूषा, बौद्धदर्शन, चार्वाक-दर्शन, रामानुज-दर्शन, वेदान्त-दर्शन आदि पुस्तकें लिखी हैं, जो अबतक अप्रकाशित हैं। उक्त मञ्जूषा में ११०० श्लोक हैं। ये पुस्तकें जब प्रकाशित होंगी, तभी आपकी दार्शनिकता का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।

पुस्तक की पाण्डुलिपि का सम्पादन हो चुकने पर आपने पुनः दुबारा पूरी पुस्तक को नये सिरे से लिख डाला। पुस्तक में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों के सरलार्थ भी लिख डाले, जो परिशिष्ट में द्रष्टव्य हैं। दूसरी बार शास्त्रीय पद्धति से संस्कार करके आपने पुस्तक का कायाकल्प कर दिया। कहाँ आपका जराजर्जर शरीर और कहाँ विशुद्ध संस्कृतज्ञ होकर भी दुरूह विषय को हिन्दी में लिखने का कठोर परिश्रम, आधुनिक युग के लिए यह एक आदर्श ही है।

आशा है कि पाठकजी की पुस्तक को पाठक पसन्द करेंगे।

श्रीकृष्णजन्माष्टमी }
शकाब्द १८८० }

शिवपूजनसहाय
(संचालक)

# ग्रन्थकार का प्राक्कथन

इत्येतच्छ्रुतिशास्त्रसारनिचयं संगृह्य यत्नान्मया
संक्षेपेण निदर्शितं निजमनस्तोषाय बोधाय च ।
सारं ग्राह्यमपास्य फल्गु सुधिया ध्यानेन वै पश्यता
आकांक्षा यदि सर्वशास्त्रविषये व्युत्पत्तिमाप्तुं भवेत् ॥

—ग्रन्थकर्त्तुः

मुझे स्वाध्याय-काल में ही हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कुछ दार्शनिक लेखों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उसी समय मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि हिन्दी में भी संस्कृत के दार्शनिक ग्रन्थों के अनुसार कोई सुबोध ग्रन्थ लिखा जाय, जो बहुजनहिताय हो।

संयोगवश मित्रवर पं० बलदेव उपाध्यायजी की 'भारतीय दर्शन' नामक पुस्तक देखने का अवसर मिला। यह पुस्तक यद्यपि विद्वत्तापूर्ण है, तथापि इसमें नवीनता और ऐतिहासिक विषयों पर जितना ध्यान दिया गया है, उतना यदि मूल सिद्धान्तों के विश्लेषण पर भी ध्यान दिया गया होता, तो संस्कृतज्ञ दार्शनिकों और संस्कृत न जाननेवाले हिन्दी-पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी होती।

पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कुछ दार्शनिक लेखों के देखने से मेरी यह धारणा हुई कि कुछ ऐसे अनधिकारी व्यक्ति भी दार्शनिक लेख लिखने का प्रयत्न करते हैं, जिन्होंने मूल दर्शन-ग्रन्थों को भली भाँति देखा तक नहीं है। एक बड़े विद्वान् का 'खण्डनखण्डखाद्य' पर बहिरङ्ग समालोचनात्मक विचार भी मुझे पढ़ने को मिला, जिससे भी उक्त धारणा की विशेष पुष्टि हुई। इससे यह भी प्रतीत हुआ कि बहुत-से बुद्धिमान् उत्साही लेखक भी संस्कृत के ज्ञान की न्यूनता के कारण दुरूह मूलग्रन्थों को देखने का कष्ट भी नहीं करते, केवल पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों और हिन्दी की अधूरी दार्शनिक पुस्तकों के आधार पर असम्बद्ध बातें लिख देते हैं। अतः, मैंने ऐसा विचार किया कि संस्कृत के मननीय मूलग्रन्थों के गूढ सिद्धान्तों का पूर्ण ज्ञान हिन्दी-भाषा के द्वारा भी कराया जाय, तो हिन्दी-पाठकों को दार्शनिक रहस्यों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

मेरे विचार से दार्शनिक ग्रन्थ लिखने में ऐतिहासिक या धार्मिक विषयों का विवेचन उतना उपयुक्त नहीं होता, जितना दार्शनिक तत्त्वों का विशद विवेचन। यही सोचकर मैंने संस्कृत-ग्रन्थों के आधार पर भारतीय दर्शनों के मूल सिद्धान्तों का स्पष्ट, पूर्ण और विशद विवेचन करने के लिए यह पुस्तक लिखी। जिन-जिन विषयों पर दार्शनिकों में मतभेद है और जिन-जिन विषयों पर एकवाक्यता है, तथा ऐसे विशेष

विषय, जिनपर सब दर्शनकारों ने समन्वयात्मक विचार प्रकट किये हैं, उन सभी पर मैंने प्रामाणिक ढङ्ग से प्रकाश डाला है।

जब ग्रन्थ-लेखन का श्रीगणेश किया, तब आरम्भ में बड़ी कठिनाई मालूम पड़ी। विशेषतः, दर्शन-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों को हिन्दी-पाठकों के लिए सुगम बनाने की चिन्ता मन में व्याप्त रही। अन्त में, स्वाध्याय से यह पता चला कि हिन्दी में भी दर्शन-शास्त्र के पारिभाषिक शब्द अधिकतर मूल रूप में ही प्रचलित हैं, नये नहीं गढ़े गये हैं; क्योंकि तद्भव और देशज शब्दों से दार्शनिक तथ्यों का स्पष्टीकरण होना सम्भव भी नहीं है। इसलिए, मैंने संस्कृत के पारिभाषिक शब्दों को हिन्दी में भी मूल रूप में ही व्यवहृत किया है और हिन्दी-पाठकों की सुविधा के लिए कठिन पारिभाषिक शब्दों का सरलार्थ और भावार्थ पुस्तक के अन्त में दे दिया है।

यह पुस्तक वेदभाष्यकार सायणमाधवाचार्य-कृत 'सर्व-दर्शन-संग्रह' के आधार पर आश्रित है। मेरे परमादरणीय पं० वासुदेव अभ्यङ्करजी ने उक्त ग्रन्थ की एक सुन्दर और सरल टीका लिखी है, जो बहुत उपादेय है। उससे मुझे बहुत सहायता मिली है, जिसके लिए मैं टीकाकार का ऋणी हूँ। किन्तु, मैंने टीकाकार के विचारों का कहीं-कहीं खण्डन भी किया है। आशा है, मेरे खण्डनात्मक विचार सहृदय विशेषज्ञों को औचित्यपूर्ण प्रतीत होंगे।

मैं इस पुस्तक के लिखने में कितना सफल हुआ हूँ, इसका निर्णय तो विद्वान् पाठकों के अधीन है। परन्तु, मेरा तो पूर्ण विश्वास है कि इस पुस्तक को आद्योपान्त ध्यान देकर पढ़ने से समस्त भारतीय दर्शनों का परिचय मिल जायगा। इस पुस्तक में छह दर्शनों के मूल सिद्धान्तों का विवेचन पृथक्-पृथक् किया गया है। सिद्धान्त की व्यवस्था करने में पूर्वपक्षियों की शङ्काओं का समाधान तत्तत् दर्शनों के अनुसार ही करने की चेष्टा की गई है, जिससे उन दर्शनों में पूर्ण प्रौढि प्राप्त हो। इसके विषय-प्रवेश में आस्तिक, नास्तिक, तार्किक, श्रौत आदि सभी दर्शनों का समालोचनात्मक विचार के साथ तारतम्य दिखाया गया है। श्रुतियों के गूढार्थ होने के कारण सम्भावित शङ्काओं के समाहित करने का पूर्ण प्रयास किया गया है, साथ ही श्रौत तत्त्व तथा शास्त्रों में वर्णित तत्त्वों में भेद के भान होने का कारण भी बताया गया है। मूल कारण में आरम्भवाद, संघातवाद, परिणामवाद, विवर्त्तवाद आदि वादों और सत्ख्याति, असत्ख्याति, अन्यथाख्याति आदि ख्यातियों का भी पूर्ण विश्लेषण किया गया है। प्रमाणों में मतभेद, परस्पर सम्बन्ध और उनमें बाध्य-बाधक भाव के आलोचन के साथ-साथ बन्ध और मोक्ष की भी पूरी व्याख्या की गई है।

मैंने इस पुस्तक के लिखने में किसी हिन्दी-दार्शनिक ग्रन्थ से सहायता न लेकर केवल मूल संस्कृत-ग्रन्थों से ही सहायता ली है। इस पुस्तक में कोई ऐसी नई बात नहीं है, जो संस्कृत के ग्रन्थों में कहीं-न-कहीं न हो और मेरी अपनी कल्पना हो। इसमें जहाँ से जो बात ली गई है, उसका निर्देश यथास्थान कर दिया गया है। यदि कहीं वैसा न हुआ हो, तो स्थान वा उद्धरण की प्रसिद्धि तथा स्थानाभाव को ही कारण समझकर मुझे क्षमा करेंगे। मैंने इस बात की चेष्टा की है कि इसमें कोई

प्रसिद्ध विषय छूटने न पावे। 'नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते' पर भी मैंने विशेष ध्यान दिया है। इसमें कितने विषयों पर विचार किया गया है, यह पुस्तक देखने से ही मालूम होगा। जहाँ तक हो सका है, कठिन-से-कठिन विषयों को भी सरल भाषा में समझाने का प्रयास किया गया है। सम्भव है, मनुष्यसुलभ सहज प्रमादवश कहीं विपरीत भी हो गया हो, इसलिए विज्ञ पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूँ। और भी, जो दोष इस पुस्तक में हों, अथवा गम्भीर विषयों के समझाने के लिए उपयुक्त शब्द का कहीं प्रयोग न हुआ हो, तो उदार सज्जन तदर्थ मेरे अज्ञान को ही कारण समझें।

मेरे परम आदरणीय, बिहार-राज्य के भूतपूर्व शिक्षा-मन्त्री तथा बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के तात्कालिक अध्यक्ष आचार्य बदरीनाथ वर्मा ने इस पुस्तक को 'अवश्य प्रकाशनीय' कहकर मेरा उत्साह बढ़ाया था। यह पुस्तक उन्हींके प्रोत्साहन का सुपरिणाम है।

छपरा-निवासी वैद्यराज पण्डित रामरक्ष पाठक, आयुर्वेदाचार्य, आयुर्वेद-मार्त्तण्ड ने, जो आजकल जामनगर ( सौराष्ट्र ) में सेण्ट्रल आयुर्वेदिक रिसर्च-इंस्टीच्यूट के डायरेक्टर हैं, बार-बार हिन्दी में एक सर्वाङ्गपूर्ण दर्शन-ग्रन्थ लिखने के लिए परामर्श दिया था और इस पुस्तक की पाण्डुलिपि देखकर बड़ा सन्तोष प्रकट किया था। उनकी सम्मति से मैं इस कार्य में सोत्साह अग्रसर हुआ।

इस पुस्तक का आरम्भिक अंश मैंने पटना-कॉलेज के संस्कृताध्यापक पं० चन्द्रकान्त पाण्डेय, एम्० ए०, व्याकरणाचार्य को दिखाया था। उन्होंने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की, जिससे मेरे मन को बड़ा बल मिला और यह पुस्तक निर्विघ्न समाप्त हुई।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि और समस्तीपुर-कॉलेज के प्रिन्सिपल श्रीकलक्टर सिंह 'केसरी' ने मुझे इस पुस्तक को बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् में प्रकाशनार्थ देने के लिए विशेष उत्साहित किया। उन्हींके सुझाव के अनुसार परिषद् के अधिकारियों से यह पुस्तक दिखाने का प्रयत्न किया।

मोतिहारी-कॉलेज के संस्कृत-हिन्दी-अध्यापक पं० गिरिजादत्त त्रिपाठी, एम्० ए०, व्याकरण-न्यायाचार्य तथा उनके भ्राता पं० दुर्गादत्त त्रिपाठी, काव्यतीर्थ, हिन्दी-विशारद समय-समय पर मुझे सलाह देते रहे कि हिन्दी में दर्शनशास्त्र-सम्बन्धी कोई ऐसी पुस्तक लिखिए, जो केवल संस्कृत के मूलग्रन्थों पर आधृत हो। उन दोनों की सलाह से भी मेरा मन इस दिशा में प्रवृत्त हुआ।

मेरे गाँव के क्षत्रियकुमार श्रीरामप्रवेश सिंह तथा मेरे अन्तरङ्ग-वर्ग के पं० वेणीप्रसाद मिश्र एवं पं० गौतम पाण्डेय ऐसी पुस्तक के लिखने के लिए अहर्निश प्रेरणा तथा आपेक्षिक सहायता देते रहते थे। इन तीनों स्नेहियों के निरन्तर उकसाते रहने से मैं उमङ्ग के साथ बराबर इस कार्य में तत्पर रहा।

उपर्युक्त सज्जनों को मैं यथायोग्य हार्दिक आशीर्वाद और धन्यवाद देते हुए उनके प्रति सादर कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

यहाँ पर मैं अपने दो स्वर्गीय हितैषियों का सधन्यवाद स्मरण करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, जिनसे सर्वप्रथम मुझे इस कार्य में संलग्न होने का संकेत मिला। वे दोनों सज्जन पटना के उच्च न्यायालय के एडवोकेट थे। उनमें प्रथम स्मरणीय हैं श्रद्धेय श्रीलक्ष्मीनारायण सिंह, जो पटना के परम प्रसिद्ध चिकित्सक डॉ० उग्रप्रताप सिंह के पिता थे। इन्होंने संस्कृत-पत्रिकाओं में प्रकाशित मेरे दार्शनिक लेखों को देखकर यह सम्मति प्रकट की थी कि मैं उन विषयों को यदि हिन्दी में लिख दूँ, तो साधारण जनता का महान् उपकार होगा। इस प्रकार, सर्वप्रथम ये ही मेरे इस कार्य में प्रेरक हुए। दूसरे उल्लेखनीय सज्जन हैं श्रीकृष्णदेवप्रसाद, जो संस्कृत के बहुत अच्छे विद्वान् थे। इन्होंने भी मेरे संस्कृत-निबन्धों को देखकर हिन्दी में दार्शनिक विषय पर प्रामाणिक पुस्तक लिखने के लिए बार-बार उत्साहित किया था। अतः मैं उन दोनों महानुभावों की दिवंगत आत्मा के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

बिहार-राज्य के समाज-शिक्षण-विभाग के उपनिर्देशक और परिषद्-सदस्य पं० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' को परिषद् ने इस पुस्तक के संशोधन-सम्पादन का भार सौंपा था। उन्होंने इसे हिन्दी पाठकों के लिए विशेष बोधगम्य बनाया। उनके उस सत्प्रयास के लिए मैं उनका सादर आभार-अङ्गीकार करता हूँ।

अन्त में, 'अन्ते गुरुः' के अनुसार अपने पूज्य गुरु आचार्यप्रवर पं० हरिशङ्कर पाण्डेय के श्रीचरणों का स्मरण करता हूँ। उनकी मेरे प्रति सदिच्छा, सद्भावना और सत्प्रेरणा बाल्यावस्था से आज तक एक रूप से बनी हुई है। उसीका यह फल है कि इस पुस्तक के लेखक होने का श्रेय मुझे प्राप्त हुआ है। उन आराध्य चरणों में केवल शिरोनमन के अतिरिक्त कोई भी ऐसा उपयुक्त शब्द नहीं मिलता, जिसको समर्पित कर अपने को कृतार्थ समझूँ।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के सञ्चालक-मण्डल के सदस्य भी अनेकशः धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने इस पुस्तक को प्रकाशनार्थ स्वीकृत कर अपनी सोदार गुणग्राहिता का परिचय दिया है।

नात्रातीव प्रकर्त्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः।
दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते॥
—उदयनाचार्यस्य

संस्कृत-विद्यालय, चिरैयाटाँड़, पटना
श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी, शकाब्द १८८०

रङ्गनाथ पाठक

# विषय-सूची

To
The
Head of Department
of Philosophy
ALLAHABAD UNIVERSITY
ALLD.

# भारतीय दर्शन और तत्त्व-ज्ञान

भारतीय दर्शनों में प्रत्येक की एक विशिष्ट परम्परा है। प्रत्येक दर्शन परम प्राप्तव्य को प्राप्त करने के लिए एक विशिष्ट मार्ग का निर्देशन करता है। सूक्ष्म दृष्टि से समालोचना करने पर सभी दर्शनों का सामञ्जस्य और समन्वय एक परम लक्ष्य की प्राप्ति में ही सिद्ध हो जाता है। दूसरे शब्दों में, साधन के भेद होने पर भी साध्य की एकता के कारण सभी दर्शन-शास्त्रों का तात्पर्य एक ही है। और, वह है—निरतिशय दुःख की निवृत्ति और निरतिशय सुख की प्राप्ति। इसी को आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति और आत्यन्तिक सुख-प्राप्ति भी कहते हैं।

दुःख के तीन भेद हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। इन तीनों प्रकार के दुःखों का ऐसा निश्शेष हो जाना, जिसमें दुःख के लेश की भी सम्भावना न रह जाय, निरतिशय दुःख-निवृत्ति का लक्षण है। इस प्रकार सभी तरह के दुःखों से छुटकारा पाना ही समस्त दर्शनों का परम लक्ष्य है।

अब निरतिशय सुख-प्राप्ति का क्या स्वरूप है, इसपर भी थोड़ा विचार करना चाहिए। निरतिशय सुख-प्राप्ति उस अवस्था का नाम है, जहाँ परम सुख की प्राप्ति हो जाने पर किसी प्रकार के भी सुख की अभिलाषा नहीं रह जाय। दूसरे शब्दों में, परम सुख मिल जाने पर प्राप्तव्य कोई वस्तु ही नहीं रह जाती है। आत्यन्तिक सुख वही है, जिससे बढ़कर दूसरा कोई सुख होता ही नहीं है।

इसी परम लक्ष्य को—चरम-लक्ष्य, परम पुरुषार्थ, मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य आदि अनेक विभिन्न शब्दों से अभिहित किया गया है, और इसी को प्राप्त करने के लिए प्रायः सभी दर्शनकारों ने पृथक्-पृथक् अपनी दृष्टि के अनुसार सुगम मार्ग बताये हैं। जीवमात्र—मनुष्य से पशु, पक्षी, कीट, पतंग तक—सभी में यह सहज वासना रहती है कि सब प्रकार के दुःखों से छुटकारा पा जाऊँ। यह अभिलाषा प्राणिमात्र के हृदय में किसी-न-किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहती है, इसीलिए प्रत्येक प्राणी अपने ज्ञान और क्रिया आदि के द्वारा सर्वाधिक सुख की प्राप्ति तथा सभी प्रकार के दुःखों से निवृत्ति की चेष्टा करता रहता है, और इस प्रयत्न का फल प्राप्त हो जाने पर भी किसी-न-किसी प्रकार अधिक-से-अधिक सुख पाने के लिए उसकी चाह बनी ही रहती है। इतना ही नहीं, बल्कि तृष्णा और भी बलवती होती जाती है। यह वैषयिक सुख-साधन हमारा परम लक्ष्य नहीं, प्रत्युत तृष्णा की उत्पत्ति का कारण है।

इससे इतना स्पष्ट है कि जबतक हमारे मन में चाह या तृष्णा बनी हुई है, तबतक हमारा अभाव समाप्त नहीं हुआ है। परम सुख की प्राप्ति के अनन्तर किसी प्रकार की चाह या तृष्णा की उत्पत्ति होती ही नहीं है। परमार्थ का अर्थ ही यह है कि उस वस्तु की प्राप्ति हो जाय, जिसके पा चुकने पर पुनः किसी और वस्तु की प्राप्ति की

चाह न रह जाय, और न कोई ऐसी वस्तु ही बच जाय, जिसके लिए इच्छा उत्पन्न हो। इसी को निरतिशय सुख या निरतिशय दुःख की निवृत्ति कहते हैं।

अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है—इस आत्यन्तिक सुख का ज्ञान किस प्रकार होता है, संसार में देखा जाता है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि वैषयिक सुख की पराकाष्ठा ही कहीं नहीं है। इतना ही नहीं, यह भी समझना कठिन है कि इनमें से कौन-सा सुख श्रेष्ठ है और कौन-सा निकृष्ट। सुख-विशेष की उत्तमता या तुच्छता का ज्ञान भोक्ता के अधीन है। भोक्ता अनन्त हैं और उनकी दृष्टियाँ भी अनन्त। कोई सुख किसी को अच्छा लगता है, किसी को बुरा। इस प्रकार, लौकिक सुखों के विषय में कुछ निश्चय करना कठिन है, तो पारलौकिक सुखों के विषय में भी कुछ कहना दुष्कर है।

दुःख-निवृत्ति के सम्बन्ध में भी ठीक यही कठिनाई है। दुःख-निवृत्ति दो प्रकार की हो सकती है—एक, वर्त्तमान दुःख की निवृत्ति; दूसरी, भावी दुःख की निवृत्ति। उसमें वर्त्तमान दुःख-निवृत्ति की अपेक्षा भावी दुःख-निवृत्ति ही अच्छी मानी जाती है। कारण, वर्त्तमान दुःख की अपेक्षा भावी दुःख ही प्रबल होता है। इसीलिए, भगवान् पतञ्जलि ने भी कहा है—'हेयं दुःखमनागतम्।' अर्थात्, भावी दुःख त्याज्य है। तात्पर्य यह है कि अतीत दुःख तो भोग से निवृत्त हो चुका है, वर्त्तमान दुःख भी भुक्त हो रहा है, अर्थात् भुक्तप्राय है। अतएव, अनागत दुःख की निवृत्ति के लिए यत्न करना ही उपयुक्त समझा जाता है।

लेकिन, अनागत दुःख की निवृत्ति के लिए चिन्ता ही क्यों? वह तो अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ। अनुत्पन्न शत्रु के वध के लिए कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति चेष्टा नहीं करता। इसका उत्तर यह है कि अनागत दुःख यद्यपि वर्त्तमान नहीं है, तथापि उसका कारण तो वर्त्तमान ही है, अतः उसके नाश के लिए प्रयत्न करना समुचित ही है, इसलिए कि कारण-नाश से कार्य उत्पन्न न हो। यहाँ कारण-नाश से कार्य-रूप दुःख का उत्पन्न न होना ( दुःख-निवृत्ति ) ही अभीष्ट है।

## निरतिशय सुख या दुःख की निवृत्ति में कारण क्या है?

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि निरतिशय सुख या दुःख की निवृत्ति का ज्ञान नहीं होता, तो उसके मानने की आवश्यकता ही क्या है? कारण, जिस वस्तु की सत्ता रहती है, वह कभी किसी को अवश्य उपलब्ध होती है, और निरतिशय सुख या दुःख-निवृत्ति की उपलब्धि किसी को कभी नहीं होती, इसलिए उसको न मानना ही समुचित प्रतीत होता है। यदि कहें कि अदृष्ट पारलौकिक सुख निरतिशय होता है, वह भी युक्त नहीं है, कारण यह कि लोक में जितने प्रकार के सुख देखे जाते हैं, सब सातिशय[१] ही हैं, इस साहचर्य से अदृष्ट सुख भी सातिशय ही होगा, इस अनुमान से भी यही सिद्ध होता है कि निरतिशय सुख या दुःख-निवृत्ति कोई पदार्थ नहीं हैं।

इसका समाधान यह है कि जिस अनुपलब्धि के बल से निरतिशय सुख

१. जिससे बढ़कर भी कोई सुख है।—ले०

या दुःख-निवृत्ति का अपलाप करते हैं, उसकी अनुपलब्धि कतिपय व्यक्ति को ही है, या व्यक्ति मात्र को ? पहला पक्ष तो कह नहीं सकते ; क्योंकि बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ हैं, जिनकी सत्ता संसार में है, और वे कुछ व्यक्तियों को उपलब्ध नहीं हैं। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं होता, कारण यह है कि व्यक्ति मात्र को वे उपलब्ध नहीं हैं, यह कैसे ज्ञात हुआ ? क्योंकि, सबके ज्ञान या अज्ञान का निश्चय एक मनुष्य के लिए असम्भव है। इस अवस्था में ऐसा कोई भी नहीं कह सकता कि निरतिशय सुख या दुःख-निवृत्ति का ज्ञान किसी को नहीं है।

दूसरी बात यह है कि प्रत्येक प्राणी सबसे बढ़कर सुखी होना चाहता है। यदि सबसे बढ़कर कोई सुख या उसका आश्रय न हो, तो उसकी इच्छा निर्विषयक हो जायगी, जो अनुभव-विरुद्ध है। यह मानी हुई बात है कि असद् वस्तु की इच्छा नहीं होती; और सबसे बढ़कर सुख की इच्छा होती है, इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस सुख की भी सत्ता है, जिससे बढ़कर दूसरा कोई सुख नहीं है। यही बात दुःख-निवृत्ति में भी है।

ऊपर जो कुछ हम कह आये हैं, उसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपने प्राप्त सुख की अपेक्षा अधिक सुख की अभिलाषा करता है, और प्राप्त दुःख-निवृत्ति की अपेक्षा अधिक दुःख-निवृत्ति चाहता है, यही स्वाभाविक स्थिति है। मोक्ष या अपवर्ग उसी अवस्था को कहते हैं, जिसे प्राप्त कर लेने पर मनुष्य के लिए कोई अभिलषणीय या प्राप्तव्य वस्तु नहीं रह जाती, जिसके लिए उसकी इच्छा या प्रयत्न हो। इसी अवस्था को सुख या दुःख-निवृत्ति की पराकाष्ठा कहते हैं। श्रुतियों ने विभिन्न प्रकार से इसी अवस्थाविशेष का वर्णन किया है। जैसे—'सोऽश्नुते सर्वान् कामान्', 'सोऽभयं गतो भवति', 'अमृतत्वञ्च गच्छति।' यह अमृतत्व या अभयत्व परम मोक्ष की अवस्था है और निरतिशय दुःख-निवृत्ति से ही मनुष्य अभय होता है। यहाँ 'सर्वान् कामान् अश्नुते' से निरतिशय सुख-प्राप्ति और 'अभयं गतो भवति', 'अमृतत्वञ्च गच्छति' से निरतिशय दुःख-निवृत्ति ही सूचित होती है।

भावी दुःख की आशङ्का से चित्त में जो विकलता उत्पन्न होती है, उसी का नाम है भय। दुःख का लेशमात्र रहने से भी भय की सम्भावना बनी रहती है, इसलिए सर्वथा दुःख से रहित होना निरतिशय दुःख-निवृत्ति की अवस्था में ही सम्भव है। जन्म-मरण से उत्पन्न होनेवाला दुःख तो सबसे भयङ्कर दुःख है, और इस जन्म-मरण के चक्कर से छूटना ही दुःख से आत्यन्तिक रूप में छूटना है। इसीलिए, श्रुतियाँ मोक्ष का वर्णन करते समय कहती हैं—'न स भूयोऽभिजायते', 'सोऽमृतत्वाय कल्पते।'

एक बात और विचारणीय है—यदि निरतिशय सुख की प्राप्ति और निरतिशय दुःख की निवृत्ति में प्राणियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति हो, तब तो प्राणिमात्र को मुमुक्षु होना चाहिए। परन्तु, संसार में ऐसा देखा नहीं जाता। बिरले ही पुरुष मुमुक्षु होते हैं। इसका समाधान यह है कि जिसे निरतिशय सुख-प्राप्ति और निरतिशय दुःख-निवृत्ति-स्वरूप मोक्ष का ज्ञान ही नहीं है, उसकी प्रवृत्ति मोक्ष में कैसे हो सकती है ? क्योंकि, ज्ञात सुख के लिए ही प्रवृत्ति होना सर्वतन्त्रसिद्ध है। कुम्हार को जबतक

मिट्टी, चाक, दण्ड आदि साधनों का ज्ञान न हो, तबतक घड़ा बनाने में उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। इतना ही नहीं, साधन के ज्ञान होने पर भी साधन की अनिश्चितता में प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान, कि हमारा परम प्राप्तव्य लक्ष्य मोक्ष है, हजारों में दो-चार को ही होता है, और इस प्रकार के ज्ञान न होने के कारण ही बहुत कम मुमुक्षु होते हैं। मोक्ष की इच्छा तो दूर की बात है, पारलौकिक सुख की इच्छा ही कितनों को होती है?

सुख, दुःख आदि की दृष्टि से मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं—एक वे हैं, जो अपनी स्थिति के अनुसार सुख के सब साधनों को प्राप्त किये हुए हैं। दूसरे वे हैं, जिन्हें सुख के सब साधन प्राप्त नहीं हैं, किन्तु प्राप्त कर सकते हैं। तीसरे वे हैं, जिन्हें सुख-साधन प्राप्त करने की योग्यता तो है, परन्तु नहीं प्राप्त कर सकते। प्रथम कक्षा के लोगों में, जिन्हें सब सुख-साधन प्राप्त हैं, प्रतिशत दो या एक ही होंगे, जिनकी प्रवृत्ति, पूर्वार्जित सुकृत कर्म के उदय होने से, परमार्थ की ओर होती है। परन्तु, अधिकांश व्यक्ति प्रायः सुख-साधनों में ही लिप्त होकर अन्धे हो जाते हैं, और उनकी दृष्टि परलोक-साधनों की ओर कथमपि नहीं जाती। द्वितीय कक्षावालों में कुछ अधिक लोगों की परलोक की ओर प्रवृत्ति होती है। कारण यह है कि जबतक इष्ट सुख प्राप्त करने में समर्थ होकर भी उसे प्राप्त नहीं कर पाते, तबतक आशा में बँधे रहने और प्रयत्न करने पर भी यदि सुख नहीं मिलता, तो अगत्या पारलौकिक सुख की ओर कुछ प्रवृत्ति होने लगती है। परन्तु, ऐहिक सुख की आशा उनको नहीं छोड़ती, इसलिए इस कक्षा के भी अधिकांश लोग ऐहिक सुख के न प्राप्त होने पर भी आशा में फँसे रहने के कारण परलोक की ओर ध्यान नहीं देते। तीसरी कक्षा के लोग उससे कुछ अधिक परलोक के लिए भी ध्यान देते हैं, कारण यह है कि उनके लिए ऐहिक सुख प्राप्तव्य होने पर भी वे उसे प्राप्त नहीं कर सकते, इसलिए उनकी आशा भी दुर्बल हो जाती है।

जिस प्रकार भुना हुआ बीज अंकुरोत्पादन में समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार दुर्बल आशा भी भावी सुख के अनुसन्धान को उत्पन्न नहीं कर सकती है। परन्तु, इतना होने पर भी बहुत कम आदमी परलोक के लिए चेष्टा करते हैं। कारण, जबतक ऐहिक सुख के लिए आशा का लेश भी बना हुआ है, तबतक पारलौकिक सुख के लिए प्रयत्न असम्भव-सा होता है। आशा-पिशाची से ग्रस्त होने के कारण ही जब हम पारलौकिक सुख के लिए ध्यान नहीं दे सकते, तब मोक्ष के लिए यत्न करने की बात ही कहाँ उठती है। इस प्रकार के अनेक मोहक विषयों की अभिलाषा, और आशा-पिशाची के रहते भी कुछ लोगों की मोक्ष की ओर जो प्रवृत्ति होती है, उसमें ईश्वर की कृपा ही समझनी चाहिए। श्रुति कहती है—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।' अर्थात्, जिसको परमात्मा चाहता है, उसी की परमार्थ में प्रवृत्ति होती है।

## मोक्ष का स्वरूप

अब मोक्ष का वास्तविक स्वरूप क्या है, इसपर विचार होगा। ऊपर दो प्रकार का मोक्ष कहा गया है—आत्यन्तिक सुख-प्रवृत्ति और आत्यन्तिक

दुःख-निवृत्ति। यहाँ प्रश्न होता है कि क्या ये दोनों सम्मिलित मोक्ष हैं, अथवा भिन्न ? केवल एक मानने में भी प्रश्न होता है कि क्या केवल आत्यन्तिक सुख-प्राप्ति ही मोक्ष है, या केवल आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति ही ? उत्तर में केवल आत्यन्तिक सुख को ही मोक्ष नहीं कह सकते, कारण यह है कि आत्यन्तिक सुख रहने पर भी यदि आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति न हुई, तो दुःख के लेश रहने से वह सुख आत्यन्तिक नहीं कहा जा सकता। कारण, सब प्रकार के दुःखों के लेश से भी असंस्पृष्ट जो सुख है, उसी को आत्यन्तिक या निरतिशय कहा जाता है। किसी प्रकार के दुःख का लेश रहने पर वह सातिशय हो जाता है। इसलिए, किसी प्रकार भी वह निरतिशय या आत्यन्तिक नहीं कहा जा सकता। यदि यह कहें कि इतर सब सुखों की अपेक्षा अधिक होने के कारण, लेशतः दुःख रहने पर भी, वह निरतिशय कहा जा सकता है; क्योंकि लेशतः दुःख निरतिशय सुख के स्वरूप में कुछ न्यूनता-सम्पादन नहीं कर सकता, किन्तु सुख के अनुभव में ही कुछ न्यूनता ला सकता है। इस प्रकार, लेशतः दुःख रहने पर भी सर्वाधिक निरतिशय सुख को मोक्ष माना जाय, तो किसी प्रकार केवल सुख को मोक्ष कह सकते हैं। परन्तु, वह मोक्ष शब्द का स्वारसिक[1] अर्थ नहीं हो सकता। मोक्ष शब्द का स्वारसिक अर्थ है—मुक्तता, अर्थात् सब प्रकार के दुःखों से छूटना। और, जहाँ दुःख का लेश-मात्र भी है, वहाँ मुक्ति कहाँ ? लेशतः दुःख विद्यमान रहने पर भी प्रगाढ सुख के अनुभव-काल में उसकी प्रतीति नहीं होने से वह अविद्यमान-सा रहता है, इसलिए वह आत्यन्तिक सुख या मोक्ष कहा जा सकता है। यदि ऐसा कहें, तो किसी प्रकार हो सकता है, वह भी उन्हीं के मत में सम्भव है, जो आत्मा में परस्पर भेद मानते हैं, और जो आत्मा को एक मानते हैं, उनके मत में नहीं।

कारण यह है कि आत्मैक्यवादी के मत में प्रतीयमान भेद को औपाधिक मानना आवश्यक होता है, अन्यथा अद्वैत-सिद्धान्त भंग हो जायगा और मोक्षावस्था में औपाधिक भेद के भी विलय होने से एक अखण्ड पूर्ण स्वतन्त्र सर्वनियन्ता परमेश्वर ही नित्य रह जाता है। इस अवस्था में आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति स्वयं हो जाती है, अतएव केवल निरतिशय सुख-प्राप्ति ही मोक्ष इनके मत में नहीं बनता। दूसरे शब्दों में, केवल सुख-स्वरूप को मोक्ष माननेवाले को चित् और जड़ में भी भेद अवश्य मानना होगा; क्योंकि अभेद मानने में जड़ का आरोपित होना अनिवार्य हो जायगा। और, यदि मोक्षावस्था में आरोपित वस्तु का भान नहीं होता, तो सुख भी मोक्षावस्था में उत्पन्न नहीं हो सकता; क्योंकि वह भी अचेतन होने से आरोपित ही होगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा और अनात्मा तथा परस्पर आत्मा में भी जो भेद मानते हैं, उन्हीं के मत में केवल आत्यन्तिक सुख कथमपि मोक्ष हो सकता है, और जो इनमें भेद नहीं मानते, उनके मत में केवल सुख मोक्ष नहीं हो सकता।

यहाँ कुछ और विस्तार से विचार करना चाहिए कि क्यों निरतिशय सुख-प्राप्ति और निरतिशय दुःख-निवृत्ति को सम्मिलित रूप में मोक्ष कहते हैं। पूर्ण स्वतन्त्रता का

---

१. यथार्थ-यौगिक।

ही नाम आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति है; क्योंकि परतन्त्रता ही दुःख का बीज है और पूर्ण स्वतन्त्रता तो केवल परमात्मा को ही है। मुक्त पुरुषों को परमात्मा से भिन्न माना जाय, तो भी ईश्वर के परतन्त्र उन्हें मानना ही होगा, और यदि सब मुक्तात्माओं को ईश्वर से भिन्न होने पर भी स्वतन्त्र मान लिया जाय, तो जगत् का व्यापार चल कैसे सकेगा? क्योंकि, पूर्ण स्वतन्त्रता की अवस्था में दो में भी मतभेद देखा जाता है, तो बहुतों की स्वतन्त्रता में फिर कहना ही क्या है। फिर भी, जगत् का व्यापार सुव्यवस्थित रूप से नियमतः चल रहा है; अस्तु। यह एकतन्त्र ही है, अनेकतन्त्र नहीं। इस दृष्टि से मुक्तात्मा को भी ईश्वर के परतन्त्र ही मानना होगा, और परतन्त्रता में आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति की सम्भावना ही नहीं हो सकती, इसलिए एकात्मवाद; अर्थात् आत्मा और परमात्मा में अभेद का सिद्धान्त मानना ही होगा। एकात्मवाद मानने से मुक्तात्मा पूर्ण स्वतन्त्र ईश्वर-स्वरूप ही हो जाता है। इस स्थिति में, आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति मोक्षावस्था में स्वयं सिद्ध हो जाती है। परन्तु, मोक्षावस्था में आत्यन्तिक सुख-प्राप्ति तभी सम्भव है, जब आत्मा और अनात्मा में भेद मानें; क्योंकि शरीर और विषयों के सम्बन्ध से ही सुख उत्पन्न होता है। शब्द, स्पर्श आदि विषय और यह शरीर भी तो जड़ ही है। मोक्षावस्था में सुखोत्पादन के लिए शरीर और विषयों का अस्तित्व मानना ही होगा, और उसको सत्य ही मानना होगा, कारण यह कि आरोपित मानने से मोक्षावस्था में सुख का भान नहीं हो सकता।

इससे यह सिद्ध होता है कि जब आत्मा और अनात्मा, अर्थात् चित् और जड़ में भेद है और आत्मा-परमात्मा में अभेद, तभी आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति और आत्यन्तिक सुख-प्राप्ति, सम्मिलित मोक्षावस्था में, हो सकती है और यह प्रत्यभिज्ञा-वादियों के ही मत में सम्भव है।

मोक्षावस्था का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति कहती है—'अशरीरं वावसन्तं न प्रियाऽप्रिये स्पृशतः' (छान्दोग्य० ८।१२।१), (अर्थात् मोक्षावस्था में प्रिय और अप्रिय, अर्थात् सुख या दुःख का स्पर्श नहीं होता)। दूसरे शब्दों में, जिस अवस्था में सुख या दुःख का लेश भी नहीं रहता, उसी को कैवल्य या मोक्ष कहते हैं। इस अवस्था में अप्रिय स्पर्श के समान ही प्रिय, अर्थात् सुखानुभव का भी श्रुति निषेध करती है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि केवल आत्यन्तिक सुख-प्राप्ति या सम्मिलित आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति और आत्यन्तिक सुख-प्राप्ति—इनमें कोई भी मोक्षावस्था में श्रुति-सम्मत नहीं है। किन्तु, केवल आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति ही मोक्षावस्था में श्रुति-सम्मत है। मोक्षावस्था में सुख-दुःख दोनों में से किसी का भी लेश नहीं रहता, यही श्रुति का तात्पर्य है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या आत्मा पाषाण के सदृश जड़ है, जिसे सुख-दुःख का स्पर्श अर्थात् अनुभव नहीं होता? अथवा, क्या मुक्तात्मा स्वभावतः अभोक्ता, असंग और निर्लेप है? आत्मा को पाषाण की तरह अचेतन मान लेना अज्ञान है। जिसमें दुःख की सम्भावना हो, फिर भी दुःख से मुक्त हो, वही मुक्तात्मा है। इसलिए, पाषाण की तरह जीव को अचेतन मानना युक्त नहीं है।

हम जीवात्मा को पाषाण की तरह सर्वदा अचेतन नहीं मानते, किन्तु

मोक्षावस्था से पहले जीवात्मा चेतन रहता है, और मोक्षावस्था में ही वह जड़ हो जाता है। कारण यह है कि ज्ञान का ही नाम चैतन्य है, इसलिए ज्ञानी को चेतन कहा जाता है। बद्धावस्था में जीव को ज्ञान रहता है, इसलिए सुख-दुःख का अनुभव वहाँ होता है, और मुक्तावस्था में ज्ञान-गुण का ही सर्वथा लोप हो जाता है, इसलिए सुख-दुःख का अनुभव भी नहीं हो सकता। यद्यपि इस प्रकार, मोक्षावस्था में केवल आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति भी सिद्ध हो जाती है, तथापि इस प्रकार की मोक्षावस्था को श्रुति नहीं मानती; क्योंकि मोक्षावस्था में सर्वात्मैक्यदृष्टि को श्रुति मानती है—'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्' ( बृ० आ० २।४।४ )। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ सब कुछ आत्मा ही हो जाता है, वहाँ किससे किसको देखें, किससे किसको जानें। यह श्रुति मोक्षावस्था में दर्शन और ज्ञानादि का अभाव-बोधन करती है, परन्तु जड़ होने के कारण नहीं, किन्तु 'सर्वमात्मैवाभूत्' सब कुछ आत्मा ही हो जाता है, इसलिए दर्शनादि के साधन न रहने के कारण यह सर्वात्मैक्यदृष्टि-प्रयुक्त ज्ञानादि के ही अभाव का बोधन करती है।

यहाँ एक रहस्य और समझना चाहिए कि जब सर्वात्मैक्यदृष्टि पराकाष्ठा को प्राप्त कर जाती है, तब द्रष्टा और दृश्य का भान नहीं होता। वहाँ दृष्टि स्वरूपतः विद्यमान रहने पर भी दृष्टि शब्द से व्यवहार करने योग्य नहीं रह जाती। इसलिए, श्रुति में 'सर्वमात्मैवाभूत्' यहाँ 'अभूत्' इस सत्तार्थक 'भू' धातु का प्रयोग हुआ। 'आत्मैव दृश्यते', ऐसा नहीं कहा गया। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा को स्वाभाविक अभोक्ता स्वीकार करने पर ही मोक्ष में आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति सिद्ध होती है, पाषाणादि की तरह जड़ मानने से नहीं। एक बात और है कि यदि हम आत्मा को स्वाभाविक अभोक्ता मान लेते हैं, तो उसका भेद या अभेद स्वीकार करने में कोई भी विरोध नहीं होता, और सुख-दुःख के लेश नहीं रहने से आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति भी मोक्ष में सिद्ध हो जाती है।

इस प्रकार मोक्ष के सामान्य स्वरूप का वर्णन किया गया, और प्रत्येक दर्शनकार ने अपने-अपने अभिमत प्रमाणों के आधार पर मोक्ष के स्वरूप में जो भेद माना है, उसका विवेचन उनके दर्शनों के सिद्धान्त-निदर्शन के समय किया जायगा।

## मोक्ष का साधन

अब मोक्षावस्था की प्राप्ति का साधन क्या है, इसके बारे में कुछ विचार करना चाहिए। मोक्ष के साधन की जिज्ञासा होने पर मोक्ष के स्वरूप-ज्ञान की अपेक्षा होती है। उक्त मोक्ष के स्वरूपों में दुःख-निवृत्ति को ही सर्वाभिमत माना गया है, और दुःख-निवृत्ति के सामान्यतः दो प्रकार माने गये हैं। जैसे, शारीरिक या मानसिक रोगों का चिकित्सक दुःख के असह्य होने पर मादक औषधियों के द्वारा दुःख-संवेदन को रोक देता है और जो चतुर चिकित्सक है, वह दुःख के कारणों को समझकर उन कारणों को ही निर्मूल करने की चेष्टा करता है। इन दोनों उपायों में दूसरा ही उत्तम समझा जाता है; क्योंकि पहले उपाय से दुःख-संवेदन रुक जाने पर भी उसका मूल विद्यमान होने के कारण पुनः दुःख होने की सम्भावना बनी रहती है। इसलिए, दुःख के

मूल कारण का परिहार करना ही दुःख-निवृत्ति का सर्वोत्तम उपाय है। मूल कारण के परिहार के लिए उसका स्वरूप-ज्ञान आवश्यक होता है। लोक में अनेक प्रकार के दुःख देखे जाते हैं, उन सबका परिहार मुमुक्षुओं का कर्त्तव्य है। कारण, एक छोटे-से छोटे दुःख के रहने पर आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति नहीं हो सकती। यह प्रकट है कि अप्रिय वस्तु के संसर्ग से दुःख होता है, परन्तु एक अप्रिय वस्तु का परिहार करने पर दूसरी अप्रिय वस्तु आ जाती है, और परिणाम यह होता है कि अप्रिय वस्तुओं का एक ताँता-सा लगा रहता है। इन सबका परिहार करना कठिन होने पर भी अत्यावश्यक है।

एक और भी विचारणीय बात है कि एक किसी प्रकार के दुःख का यही मूल कारण है, यह निश्चय करना कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव है। इस स्थिति में नाना प्रकार के दुःखों का यही मूल कारण है, यह निश्चय करना तो और भी कठिन हो जाता है। जो वस्तु एक व्यक्ति के लिए दुःख का साधन है, वही दूसरे व्यक्ति के लिए सुख का साधन हो जाती है। और, जो वस्तु एक समय में किसी व्यक्ति के लिए दुःख का साधन है, वही वस्तु उसी व्यक्ति के लिए कालान्तर या देशान्तर में सुख का साधन हो जाती है।

इस परिस्थिति में, भिन्न-भिन्न अनेक प्रकार के दुःखों का यही मूल कारण है, ऐसा विचार बहुत सूक्ष्म दृष्टि से ही करना होगा। ऊपर कह आये हैं कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धवाली जितनी भौतिक वस्तुएँ संसार में उपलब्ध होती हैं, उनका इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होने पर ही सुख या दुःख का अनुभव होता है। उनमें कुछ वस्तुएँ सुख को और कुछ दुःख को उत्पन्न करती हैं। यहाँ यह प्रश्न सहज ही उठता है कि सुख-दुःख की उत्पादक जो वस्तुएँ हैं, उनका कारण क्या है ? और, उस कारण का भी कौन कारण है ? इस प्रकार मूल कारण की खोज करने पर सुखोत्पादक और दुःखोत्पादक वस्तुओं के मूल कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत हों, तब तो वस्तुओं का सुखोत्पादकत्व या दुःखोत्पादकत्व-स्वरूप मूल कारण का ही स्वरूप है, ऐसा स्वीकार करना होगा। यदि सुखोत्पादक और दुःखोत्पादक वस्तुओं का मूल कारण एक ही होगा, तब तो सुख-दुःखोत्पादकत्व-स्वरूप मूल कारण का स्वरूप नहीं है, यह मानना होगा; क्योंकि एक कारण से विरुद्ध दो तत्त्वों की उत्पत्ति कारण-स्वभाव के विरुद्ध है। यदि सुख-दुःखोत्पादकत्व मूल कारण में नहीं माना जाय, तो इस स्थिति में यह मानना होगा कि मूल कारण से कार्योत्पादन-परम्परा के मध्य में ही किसी वस्तु में किसी निमित्त से सुखोत्पादकत्व और दुःखोत्पादकत्व-स्वरूप उत्पन्न हो जाता है। अतएव, संसार में भूत-भौतिक निखिल पदार्थों के मूल कारण के अन्वेषण में मुमुक्षुजनों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है।

इस जगत् में जितने भूत-भौतिक पदार्थ देखे जाते हैं, उनमें ये वस्तुएँ सुख-साधन हैं, और ये दुःख-साधन, इस प्रकार उन्हें दो भागों में विभक्त नहीं कर सकते। कारण यह है कि सुखोत्पादकत्व और दुःखोत्पादकत्व ये वस्तु के ही अधीन नहीं हैं, अर्थात् सुख और दुःख वस्तु के ही धर्म नहीं हैं, किन्तु वे भोक्ता पुरुष के भी अधीन

होते हैं। उदाहरण के लिए, कामिनी और कनक सुख-साधनों में सबसे उत्तम माने जाते हैं; परन्तु वे ही वीतरागों के लिए सुखकारक नहीं होते, प्रत्युत उद्वेगकारक ही हो जाते हैं। कहा गया है—

'वस्तुतस्तदनिर्देश्यं नहि वस्तु व्यवस्थितम्।
कामिनीकनकेभ्योऽपि न सुखं शान्तचेतसाम्॥'

तात्पर्य यह है कि यह वस्तु सुखकारक है और यह दुःखकारक, इस प्रकार का निर्देश नहीं कर सकते; क्योंकि कोई भी वस्तु व्यवस्थित नहीं है। वीतरागों को कामिनी और कनक से सुख नहीं मिलता। इसलिए, भोक्ता पुरुष में भी सुखोत्पादक और दुःखोत्पादक धर्म विशेष रूप से मानना ही होगा। अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि पुरुष का जो सुख-दुःखोत्पादक धर्मविशेष माना जाता है, वह अनादिकाल से ही पुरुष में रहता है या बीच में किसी निमित्त से उत्पन्न हो जाता है? इस बात का निर्णय करने के लिए जड़ वस्तुओं के मूल कारण का अन्वेषण करना आवश्यक है, उसी प्रकार अपने मूल कारण का भी पता लगाना आवश्यक हो जाता है।

## तत्त्व-विचार

उक्त जड़ या चेतन वस्तु का जो मूल स्वरूप है, उसी का 'तत्त्व' शब्द से व्यवहार शास्त्रकारों ने किया है। 'तस्य भावस्तत्त्वम्' इस व्युत्पत्ति से जड़ और चेतन पदार्थों का जो मूल स्वरूप है, वही 'तत्त्व' कहलाता है। जिसका ज्ञान मोक्ष-प्राप्ति में उपयोगी हो, उसको भी आचार्यों ने 'तत्त्व' माना है। जड़ और चेतन के मूल स्वरूप का ज्ञान मोक्ष-प्राप्ति में उपयोगी माना गया है, अतएव जड़ और चेतन का मूल स्वरूप ही तत्त्व शब्द का वास्तविक अर्थ होता है। इस प्रकार, सामान्यतः दो तत्त्व सिद्ध होते हैं—एक, जड़ पदार्थों का मूल कारण और दूसरा, चेतन पदार्थों का मूल कारण।

अब श्रुति-सम्मत कौन-कौन तत्त्व हैं, इसका विचार किया जायगा—यद्यपि श्रुति-सम्मत तत्त्वों के विषय में शास्त्रकारों का विवाद नहीं है, तथापि प्रत्येक दर्शनकार ने अपने-अपने ज्ञान के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से तत्त्वों का वर्णन किया है। तत्त्व-जिज्ञासा का प्रकार यह है कि स्थूल कार्य देखकर सूक्ष्म कारण के लिए जिज्ञासा होती है, इसी प्रकार विशेष भूत से उसके कारण-सामान्य और मूर्त्त कार्य से अमूर्त्त कारण की जिज्ञासा होती है। इस प्रकार, कार्य देखकर कारण-विषयक जिज्ञासा स्वभावतः हुआ करती है। कारण के ज्ञान होने पर मूल कारण का अन्वेषण सुलभ हो जाता है। इसी अभिप्राय से, परमात्मा से शरीरादि सकल स्थूल प्रपंचपर्यन्त कार्य-कारण-भाव के ज्ञापन के लिए, सृष्टि-क्रम का वर्णन श्रुति ने किया है। यद्यपि, सृष्टि-क्रम वस्तुतः एक ही प्रकार का है, तथापि वर्णन-शैली विभिन्न प्रकार की पाई जाती है। एक ही वस्तु का विभिन्न प्रकार से वर्णन ज्ञान-सौकर्य के लिए प्रायः सर्वत्र देखा जाता है। उदाहरण के लिए, काव्यों में एक ही चन्द्रोदय या सूर्योदय का वर्णन विभिन्न उपमाओं के साथ विभिन्न प्रकार से किया गया है। यह विभिन्न प्रकार का वर्णन भी, विभिन्न रुचिवाले श्रोताओं के हृदय में विषय-वस्तु के सुलभतया प्रवेश करने के लिए ही, प्रसंगानुसार किया गया है।

सृष्टि का प्रतिपादन करनेवाली जितनी श्रुतियाँ हैं, उनकी एकवाक्यता भगवान् बादरायण ने ब्रह्म-सूत्र के द्वितीयाध्याय के तृतीय पाद में 'नवियदश्रुतेः', 'अस्ति तु', 'गौण्यसम्भवात्' इत्यादि सूत्रों में उत्तम प्रकार से की है। श्रुति में वर्णित सृष्टि-क्रम के अनुसार ये तत्त्व पाये जाते हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। ये पाँच भूत—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र—ये पाँच तन्मात्र। इन तन्मात्रों का ग्रहण करनेवाली श्रोत्र, त्वक्, अक्षि, रसना और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा इनका प्रेरक मन। वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ और इनके अध्यक्ष प्राण, बुद्धि, महान् आत्मा और अव्यक्त पुरुष—ये ही तत्त्व सृष्टि-प्रक्रिया में गिनाये गये हैं। इन्हीं सब तत्त्वों में परस्पर कार्य-कारण-भाव श्रुतियों ने दिखाया है। कार्य-कारण की परम्परा में सबका मूल कारण परमात्मा का साक्षात्कार ही है। कार्य-कारण-भाव दीखने का यही अभिप्राय है। इसी अभिप्राय से तत्त्वों में परापर-भाव भी श्रुतियों द्वारा वर्णित है—'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः' इत्यादि कठ-श्रुतियों के द्वारा इन्द्रियों से परे अर्थ, अर्थ से परे मन, मन से परे बुद्धि, इस प्रकार परापर-भाव बताया गया है। तात्पर्य यह कि पहले इन्द्रियों के ज्ञान होने के बाद ही विषयों का ज्ञान होता है। विषयों के ज्ञान के बाद मन का, उसके बाद बुद्धि का, इस प्रकार पूर्व-पूर्व के बाद उत्तरोत्तर का ज्ञान करते-करते सबसे परे परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार होता है। इसी प्रकार बाह्य वस्तु के ज्ञान होने के बाद ही उसके अन्तःस्थ, अर्थात् भीतरी वस्तु का ज्ञान होना सम्भव है। इसी कारण, परमात्मा का सर्वान्तःस्थ और सर्वान्तर्यामी होना श्रुति बताती है। एवम्प्रकारेण, स्थूल पदार्थ के ज्ञान के बाद ही सूक्ष्म पदार्थ का ज्ञान होना सम्भव है। सूक्ष्म के ज्ञान होने के बाद ही उसकी अपेक्षा सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम का ज्ञान या साक्षात्कार भी होता है। इस प्रकार, अनेक प्रकार के उपाय परमात्मा के साक्षात्कार के लिए श्रुति बतलाती है।

## आत्मसाक्षात्कार के उपाय

समस्त कारणों का भी कारण, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर या सूक्ष्मतम, सर्वान्तर्यामी परमात्मा ही है। और, अत्यन्त सूक्ष्म कुशाग्रबुद्धियों को श्रुति की सहायता से आत्मा का साक्षात्कार सम्भव है। परमात्मा का यथावत् स्वरूप बताने में श्रुति भी अपने को असमर्थ पाती है, और इसीलिए बार-बार कहती है—'नेति नेति', 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।' इतना ही नहीं, बृहदारण्यक में लिखा है—'वेदाः अवेदाः', अर्थात् समस्त पदार्थों का बोध करानेवाले वेद भी परमात्मा का सम्यक् बोध कराने में असमर्थ रहते हैं। श्रुतियों ने परमात्मा का बोध कराने में जो कुछ भी प्रयास किया है, वह मुख्यतः निषेधात्मक ही है। जैसे—'अस्थूलम् अनणु'; 'नान्तः प्रज्ञं, न बहिःप्रज्ञं, नोभयतः प्रज्ञं, न प्रज्ञानघनं, न प्रज्ञं, नाप्रज्ञम्, अदृष्टम्, अग्राह्यम्, अलक्षणम्, अचिन्त्यम्, अव्यपदेश्यम्' इत्यादि। उससे भिन्न के निषेध में ही श्रुति की सफलता है। इस प्रकार, दुर्बोध होने पर भी परमात्मा का बोध कराने में श्रुति अपना प्रयत्न नहीं छोड़ती। इतना ही नहीं, 'अन्नं ब्रह्म' कहकर अत्यन्त मन्दबुद्धियों की भी

ब्रह्म-भावना को दृढ़ कराती है। किसी भी वस्तु में सर्वोत्तम ब्रह्म की भावना हो, यही श्रुति का मुख्य उद्देश्य है। माता की तरह 'अन्नं ब्रह्म' कहकर वह हमें ब्रह्म-ज्ञान की ओर उत्प्रेरित करती है। सहज स्नेहमयी जननी की तरह भगवती श्रुति भी कभी वञ्चना नहीं कर सकती, प्रत्युत यथाधिकार अन्न से प्राण, प्राण से मन, मन से बुद्धि की ओर हमें उत्प्रेरित करती है। बाद में, पूर्णाधिकार प्राप्त हो जाने पर 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' का उपदेश देती है, और 'आनन्दं ब्रह्म', 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' इत्यादि वचनामृतों से हमें निर्भय बनाकर कृतार्थ कर देती है।

श्रुतियों में अधिकार के भेद से अनेक प्रकार के मार्ग ब्रह्म-साक्षात्कार के लिए बताये गये हैं। वे श्रुतियाँ प्रणवादि मन्त्रों का जप और प्रतिमादि-पूजन से परम लक्ष्य ब्रह्म-साक्षात्कार तक की ओर हमें केवल उत्प्रेरित ही नहीं करतीं, प्रत्युत उसमें प्रतिष्ठित कराने के लिए उपाय भी बताती हैं। श्रुति कहती है—परमात्म-सदन में, प्रवेश-द्वार पर ही द्वारपालों की तरह प्रतिबन्धक-रूप में, विषय और इन्द्रियाँ विद्यमान रहती हैं। इनको किसी प्रकार मिलाकर वश में करना आवश्यक है। इनको वश में करने का उपाय भी श्रुति बताती है—'यस्तु विज्ञानवान् भवति, युक्तेन मनसा सदा तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः' ( कठोपनिषद् )।

इसके बाद श्रुति कहती है—मन और प्राण जो अधिकारिवर्ग हैं, उन्हें ब्रह्म-रूप में ही देखो। यथा—'मनो ब्रह्म व्यजानात्', 'प्राणो ब्रह्म व्याजानात्' (तै० उ०)। इसके बाद भी श्रुति अपना व्यापार नहीं छोड़ती, और कहती है—अनन्य भाव से ब्रह्म में निष्ठा करो, प्रमाद न करो, 'ब्रह्मपराः ब्रह्मनिष्ठाः' ( प्र० उ० ); 'अप्रमत्तेन बोद्धव्यम्' ( म० उ० )। इस प्रकार, श्रुत्युपदेश के अनुष्ठान से ब्रह्मजिज्ञासु को जब पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है, तभी परमात्मा उसको आत्मीय समझकर देखता है, उसी को आत्मसाक्षात्कार होता है, यही परमात्मा का वरण अर्थात् स्वीकृति है—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्।' आत्मसाक्षात्कार ही मोक्ष का कारण है।

इस प्रकार सामान्यतः पर्यालोचन करने पर श्रौत दर्शनों में दो प्रकार के तत्त्व सिद्ध होते हैं—एक द्रष्टा, दूसरा दृश्य। ज्ञानस्वरूप चैतन्य का नाम द्रष्टा है। अचेतन अनात्मभूत जड़ का नाम दृश्य है। वह अनेक प्रकार का है—आकाशादि पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्र, दस इन्द्रियाँ, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त, प्राण, ज्ञान सामान्य और अव्यक्त। ये दृश्यवर्ग कहे जाते हैं। इन तत्त्वों के मूल कारण का अन्वेषण तीन प्रमाणों से सुगम होता है—प्रत्यक्ष, शब्द और अनुमान। इन्हीं तीन प्रमाणों को 'द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः' कहकर श्रुति भी क्रमशः सूचित करती है। इनमें भी मूलतत्त्वभूत आत्मा, जो ब्रह्म है, उसका साक्षात्कार होना मोक्ष के लिए आवश्यक है। इस साक्षात्कार के लिए गुरु-मुख से श्रवण कर, श्रुति आदि से निश्चय कर मनन करना उपयुक्त है। विना प्रत्यक्ष दर्शन के श्रवणमात्र से कृतार्थता नहीं होती। दीप के श्रवणमात्र से अन्धकार की निवृत्ति नहीं होती। केवल शब्द-ज्ञान परोक्ष ही होता है, दर्शन ही प्रत्यक्ष है। परोक्ष और प्रत्यक्ष में बहुत अन्तर है, यह प्रायः सबको अनुभूत है। इससे प्रकृत में यही सिद्ध होता है कि केवल आत्मा के श्रवण-मात्र से ही कृतार्थता नहीं होती, कृतार्थता तो होती है

साक्षात्कार से। श्रवण से निश्चित जो अर्थ है, उसकी विपरीत भावना की निवृत्तिपूर्वक उपपत्ति के लिए मनन ही उपयुक्त होता है। और, मनन अनुमान के ही अधीन है। सबसे परे मूल तत्त्व के साक्षात्कार के लिए मुख्यतया शब्द, अर्थात् श्रुति-प्रमाण ही उपयुक्त है। अनुमान तो उसका पोषक होने से पार्षद ही कहा जाता है।

अब मूल तत्त्व के अन्वेषण का उपयोग क्या है, इसका विचार किया जाता है। लोक में देखा जाता है कि एक ही मृत्तिका की दो प्रतिमाएँ बनाई गई हैं—एक, सुन्दर देवता की; दूसरी, भयङ्कर राक्षस की। इन दोनों के नाम और उसके आकारविशेष रूप की समालोचना के समय दृष्टि में विषमता अवश्य आ जाती है—देवता-भावना से प्रेम और राक्षस-भावना से द्वेष अवश्य उत्पन्न होता है, जिस प्रकार प्रकृत में देवता या राक्षस के नाम और रूप को हटा देने पर मृत्तिका ही मूल तत्त्व बनती है, और यह भी जान लेना चाहिए कि नाम और रूप के कारण ही राग या द्वेष का जन्म होता है। देवता के नाम और रूप की आलोचना से प्रेम और राक्षस के नाम और रूप से ही द्वेष उत्पन्न होता है। दोनों का मूल तत्त्व मृत्तिका के अनुसन्धान से देवता और राक्षस-बुद्धि नष्ट हो जाती है, केवल मृत्तिका-बुद्धि ही रह जाती है। इस अवस्था में राग-द्वेष बिलकुल नष्ट हो जाते हैं।

जिस प्रकार प्रतिमा का कारण मृत्तिका का अनुसन्धान किया, उसी प्रकार मृत्तिका के कारण का भी अनुसन्धान करे, इसके बाद उस कारण के कारण का, फिर उस कारण के कारण का; इस कारण-परम्परा के अन्वेषण में सबसे परे मूल कारण का साक्षात्कार हो जाता है। इस अवस्था में राग-द्वेष के समूल नष्ट हो जाने से चित्तवृत्ति प्रसन्न हो जाती है। चित्तवृत्ति के प्रसन्न होने से न कुछ प्रिय रहता है, न अप्रिय। प्रिय और अप्रिय का सम्बन्ध ही बन्ध, और उसका अभाव ही मोक्ष है। जैसा श्रुति-वचन पहले उपन्यस्त किया गया है—'अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाऽप्रिये स्पृशतः' (छा० उ०)। इस अवस्था में मुक्तात्मा और परमात्मा में कुछ भी भेद नहीं रह जाता। जिस प्रकार, शुद्ध जल में शुद्ध जल मिला देने से भेद भासित नहीं होता, उसी प्रकार मूल तत्त्व के साक्षात्कार करनेवाले महात्माओं को आत्मा परमात्मा से भिन्न भासित नहीं होता। श्रुति कहती है—

**'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।**
**एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥'—क० उ०, २।१।१५**

इस प्रकार का मोक्ष केवल आत्मस्वरूप के साक्षात्कार से ही प्राप्त होता है, इसमें दूसरे किसी साधन की आवश्यकता नहीं है। साधनान्तर की अपेक्षा का निषेध स्वयं श्रुति करती है—'तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (तै० आ०), अर्थात् उस परमात्मा को जानकर ही मनुष्य अमृत, अर्थात् मुक्त हो जाता है। मुक्ति के लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं है। पुनः श्रुति कहती है—'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। संपश्यन् परमं ब्रह्म याति नान्येन हेतुना।' अर्थात्, जो मनुष्य सब भूतों में अपने को और अपने में सब भूतों को देखता है, वह परब्रह्म को प्राप्त करता है, इसमें कोई दूसरा हेतु नहीं है।

इससे यह सिद्ध होता है कि निश्चय ही मोक्ष-मार्ग में आत्मज्ञान परमावश्यक है; और भी कर्म, उपासना, तप आदि मोक्ष के जो साधन बताये गये हैं, उनका निषेध भी नहीं होता; क्योंकि चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति में उसकी उपयोगिता अवश्य रहती है। ज्ञान-प्राप्ति के बाद उनकी उपयोगिता नहीं रह जाती। 'तमेतं वदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा' (बृ० आ० उ० ४।४।२२)—इस श्रुति का भी तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि केवल विविदिषा अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति में ही यज्ञ, दान और तप आदि का उपयोग होता है, ज्ञान-प्राप्ति के बाद नहीं।

श्रुतियों में मुक्ति के दो भेद बताये गये हैं—सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति। 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० उ० ६।१४।४२)—इस श्रुति से सद्योमुक्ति का वर्णन किया गया है। और—

**'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः।**
**ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे॥'**

**—म० ना० उ० १२।३**

इस श्रुति से क्रममुक्ति का वर्णन किया गया है। क्रममुक्ति के प्रसङ्ग में ही देव-यान-मार्ग का वर्णन छान्दोग्य और बृहदारण्यक में विस्तृत रूप से किया गया है।

## पुनर्जन्म-विचार

इन दो प्रकार की मुक्तियों में मूल भेद यह है कि मोक्ष के प्रतिबन्धक प्रारब्ध कर्म का जब समूल नाश हो जाता है, और आत्मविज्ञान पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, उस अवस्था में सद्योमुक्ति होती है। यदि प्रारब्ध कर्म का समूल नाश न हो, अथवा आत्मविज्ञान पराकाष्ठा को न पहुँचे, तब तो क्रममुक्ति ही होती है। जबतक आत्मविज्ञान नहीं होता, केवल मरने से संसार से मुक्ति नहीं मिलती, कर्मफल के उपयोग के लिए बार-बार जन्म-मरण का चक्कर लगा ही रहता है। कहा भी है—'जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुनः पुनः', 'पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात् स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः, (कैवल्योपनिषद्, १।१४) इत्यादि श्रुति, तथा 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इत्यादि स्मृति-वाक्यों से पुनर्जन्म तो सिद्ध ही है, इसके अतिरिक्त अनुमानादि प्रमाणों से भी उसकी पुष्टि होती है।

लोक में देखा जाता है कि कोई व्यक्ति जन्म से ही राजकुल में उत्पन्न होने के कारण सुखोपभोग करता है, और दूसरा व्यक्ति दरिद्र-कुल में जन्म लेकर दुःख भोगता है। इस वैषम्य का कारण केवल पुनर्जन्म के अतिरिक्त दूसरा क्या हो सकता है? क्योंकि, यह सब प्रमाणों से सिद्ध है कि सुख और दुःख पुण्य-पाप कर्मों का ही फल है। नवजात शिशु के किसी कर्म की सम्भावना नहीं है, इसलिए अगत्या पूर्व-जन्म के कर्म का अनुमान किया जाता है। अन्यथा, विना कर्म के ही सुख-दुःख का उपभोग मानना होगा, इस स्थिति में कारण के विना कार्य नहीं होता, यह सिद्धान्त भंग हो जायगा। दूसरी बात यह है कि अकृताभ्यागम-दोष भी हो जाता है। विना कर्म किये ही उसका फल भोगना अकृताभ्यागम-दोष कहा जाता है, जैसे—नवजात

राजकुमार तथा दरिद्र बालक। यदि पुनर्जन्म न माना जाय, तो इस जन्म में जो कुछ भला या बुरा कर्म किया, और उसका फल भोगे विना उसका शरीरान्त हो गया, इस स्थिति में उसका कर्म व्यर्थ हो जाने से कृतप्रणाश-दोष हो जाता है।

और भी, किसी काम में प्रवृत्ति के प्रति इष्टसाधनता का ज्ञान कारण होता है। तात्पर्य यह है कि तबतक मनुष्य या किसी जन्तु की उस काम में प्रवृत्ति नहीं होती, जबतक उसे यह ज्ञान न हो कि इसमें प्रवृत्त होने से मेरा इष्ट-साधन होगा। लोक में देखा जाता है कि गाय, भैंस आदि जानवरों के बच्चे जन्म लेते ही स्तन-पान में प्रवृत्त हो जाते हैं। अब यहाँ सहज ही प्रश्न उठता है कि क्या उन बच्चों की स्तन-पान में प्रवृत्ति इष्टसाधनता-ज्ञान के विना ही आकस्मिक है, या इष्टसाधनता के पारम्परिक ज्ञान से है? यदि कारण के विना आकस्मिक प्रवृत्ति मानें, तब तो कारण के विना ही आकस्मिक कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिए, जो असम्भव है। यदि इष्टसाधनता का ज्ञान मानें, तब तो पुनर्जन्म सिद्ध हो जाता है; क्योंकि पूर्व-जन्म के अनुभव के विना इष्टसाधनता का स्मरण होना असम्भव है।

इन्हीं सब कारणों से प्रायः सभी दर्शनकारों ने, केवल चार्वाक को छोड़कर, पुनर्जन्म के सिद्धान्त को माना है। यहाँ तक कि क्षणभंगवादी या शून्यवादी बौद्ध लोग भी पुनर्जन्म-सिद्धान्त को मानते ही हैं।

## सूक्ष्मशरीर की सत्ता

पुनर्जन्म-सिद्धान्त में स्थूलशरीर के अन्दर एक सूक्ष्म और कारणशरीर की भी सत्ता मानी जाती है, जो स्थूलशरीर के अभाव में भी कार्यकारी होता है। पञ्चभूत, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, प्राण और मन—इन्हीं सत्रह पदार्थों से सूक्ष्मशरीर निर्मित है, इसका कारण अविद्या या प्रकृति है। सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीर का कारण होता है, इसीलिए स्थूलशरीर के अभाव में भी सूक्ष्मशरीर की सत्ता और कार्यकारिता सिद्ध है। कार्य के अभाव में भी कारण की सत्ता सर्वसिद्धान्त से सिद्ध है। इन्हीं पञ्चसूक्ष्मभूत, दस इन्द्रियाँ, प्राण और मन को सूक्ष्मशरीर-संज्ञा आचार्यों ने भी दी है। वाचस्पति मिश्र ने भी 'प्राणगतेश्च' इस सूत्र के भाष्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—'सचैषामनुविधेयः सूक्ष्मो देहो भूतेन्द्रियमनोमय इति गम्यते' (भामती, अ० ३)। 'शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते'—पञ्चदशी के इस श्लोक का भी यही तात्पर्य है। यही सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीर का कारण होता है। कार्योत्पत्ति के पहले कारण की सत्ता अवश्य मानी जाती है। इससे सिद्ध है कि कार्य के अभाव में भी कारण की सत्ता अवश्य रहती है। और, स्थूलशरीर से जो शुभ या अशुभ कर्म होता है, उसका संस्कार सूक्ष्मशरीर के ऊपर भी अवश्य होता है। इसी कर्मजन्य संस्कार से प्रेरित होकर जीवात्मा पूर्वदेह को छोड़कर देहान्तर को प्राप्त करता है। सूक्ष्मशरीर का परलोक-गमन भगवान् वेदव्यास ने भी—'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्न-निरूपणाभ्याम्', 'प्राणगतेश्च' इत्यादि—वेदान्त-सूत्रों से सूचित किया है। इसका भाष्य करते हुए भगवान् शङ्कराचार्य ने स्पष्ट लिखा है—'जीवः मुख्यप्राणसचिवः सेन्द्रियः

समनस्कोऽविद्याकर्म पूर्वप्रज्ञापरिग्रहः पूर्वं देहं विहाय देहान्तरं प्रतिपद्यते, इत्येतदवगन्तव्यम्।' यहाँ जीवात्मा के जितने विशेषण हैं, उनसे पूर्वोक्त सूक्ष्मशरीरविशिष्ट जीवात्मा का ही देहान्तरगमन सूचित होता है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्थूल-शरीर के विना भी सूक्ष्मशरीर की सत्ता और कार्यकारिता अवश्य रहती है।

प्रतिदिन के स्वप्न का अनुभव भी उक्त विषय में प्रमाण होता है कि स्थूलशरीर के विना भी सूक्ष्मशरीर की सत्ता और कार्यकारिता विद्यमान रहती है। जिस समय घर के भीतर चारपाई के ऊपर स्थूलशरीर सो जाता है, उस समय भूतेन्द्रियमनोमय उसका सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीर की कर्मवासना से प्रेरित होकर ज्ञात-अज्ञात नगर या जंगल में भ्रमण करता हुआ कर्मवासना के अनुसार सुख या दुःख का उपभोग करता है। इसी प्रकार जीवात्मा स्थूलशरीर के छूटने पर कर्म-वासना के अनुसार सूक्ष्मशरीर के साथ नाना योनियों में जाकर अनेक प्रकार के सुख-दुःख का उपभोग करता है।

छान्दोग्य और बृहदारण्यक-उपनिषद् में पञ्चाग्नि-विद्या से देवयान और पितृयान-मार्ग के द्वारा जीवात्मा के देहान्तर-गमन का जो वर्णन किया गया है, वह केवल कल्पनामात्र नहीं है, किन्तु उसमें वास्तविकता है। जिस प्रकार सूर्य-रश्मियों के द्वारा समुद्र से जाते हुए जल-बिन्दुओं को कोई भी नहीं देखता, उसी प्रकार स्थूलशरीर से सूक्ष्मशरीर-सहित जीवात्मा को अर्चि (ज्योति) आदि के मार्ग से जाते हुए कोई नहीं देखता। यह सब काम सूर्य-चन्द्रमा की रश्मियों और वायु में विद्यमान अदृश्य आकर्षण-शक्तियों के द्वारा ही सम्पन्न हुआ करता है।

इन सब बातों से यह सिद्ध होता है केवल मरणमात्र से मोक्ष नहीं होता, किन्तु आत्म-साक्षात्कार से ही मोक्ष होता है। आत्मसाक्षात्कार का हेतु उपासना है। इसके विना आत्मसाक्षात्कार होना असम्भव है। कारण यह है कि आत्मा अत्यन्त दुर्विज्ञेय है, उसका साक्षात्कार विना उपासना के नहीं हो सकता। जिस प्रकार किसी राजा से मिलने के लिए किसी अधिकारी की आवश्यकता होती है; क्योंकि उसी के द्वारा राजा का साक्षात्कार सम्भव है, उसी प्रकार आत्माधिकार के द्वारा ही आत्मा का साक्षात्कार होना सम्भव है, अन्यथा नहीं। क्योंकि, सीमित शक्तिवाले स्थूलशरीरधारी एक साधारण राजा के दर्शन के लिए भी यदि किसी अधिकारी की आवश्यकता होती है, तो जिसके ऐश्वर्य की सीमा नहीं, उस अचिन्त्य-शक्तियुक्त सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम परमात्मा के साक्षात्कार के लिए अधिकारी की आवश्यकता हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है! राजा का दर्शन अधिकारी के विना भी किसी प्रकार हो सकता है; क्योंकि वह स्थूल दृश्यमान पदार्थ है। परन्तु, परमात्मा अत्यन्त अदृष्ट और अदृश्यमान है, इसलिए किसी प्रकार भी उसका साक्षात्कार होना, विना किसी के द्वारा, असम्भव है, अतएव यहाँ किसी माध्यम की कल्पना आवश्यक हो जाती है। इसी अभिप्राय से छान्दोग्योपनिषद् में 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' इस श्रुति के द्वारा मन में ब्रह्म-भावना से उपासना का विधान किया गया है। कारण यह है कि प्रसिद्ध वस्तु में ही किसी की भावना सम्भव है, और प्राणिमात्र में मन की स्थिति साधारणतया प्रसिद्ध है, इसलिए उसमें वस्त्वन्तर की भावना कर सकते हैं।

## प्रतीकोपासना

जो काम शरीर से हो सकता है, उससे कहीं अधिक वचन से उसका प्रतिपादन कर सकते हैं; क्योंकि जो कार्य शरीर से नहीं हो सकता, उसका प्रतिपादन वाणी कर सकती है, और जिसका प्रतिपादन वाणी भी नहीं कर सकती, उसकी भी उपपत्ति मन से कर सकते हैं। मन की गति अप्रतिहत है, वह कहीं नहीं रुकती। इसलिए, मन ही अप्रतिहत शक्तिवाले सर्वव्यापक ब्रह्म का किसी प्रकार ज्ञापक हो सकता है, इसी चिह्न से मन में परमात्मस्वरूप की कल्पना किसी प्रकार कर सकते हैं। इसी अभिप्राय से ब्रह्म-प्राप्ति का अधिकारी समझ मन में ब्रह्म-भावना की उपासना का विधान भगवती श्रुति करती है। इसमें ब्रह्मस्वरूप की प्रधानतया उपासना नहीं होती। जिस प्रकार, अत्यन्त तेजस्वी ब्राह्मण को देखकर कोई कहे कि, 'सूर्योऽयं ब्राह्मणः'—यह ब्राह्मण सूर्य है, तो इस वाक्य से अत्यन्त तेजस्वी होने के कारण ब्राह्मण का ही महत्त्व प्रतीत होता है, सूर्य का नहीं। परन्तु, यदि यही वाक्य किसी असूर्यम्पश्या राजमहिला के समीप कहा जाय, तो इसका अभिप्राय भिन्न हो जाता है। क्योंकि, सूर्य के स्वरूप को नहीं जाननेवाली राजमहिलाओं के समीप सूर्य का स्वरूप बताने के लिए समीप-स्थित तेजस्वी ब्राह्मण का निर्देश कर 'सूर्योऽयं ब्राह्मणः' कहा गया है। इसका तात्पर्य, जिस प्रकार इस ब्राह्मण का विशिष्ट तेज है, उसी प्रकार अतिशय तेजः-पुञ्जविशिष्ट कोई सूर्य-पदार्थ होगा। यहाँ सूर्य का ही महत्त्व प्रतिपादित होता है, ब्राह्मण का नहीं। इसी प्रकार 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत'—इस वाक्य के द्वारा मन में ब्रह्म-भावना की उपासना का विधान करने से अप्रतिहत शक्ति-विशिष्ट सर्वव्यापक ब्रह्म-भावना को दृढ कराने में ही श्रुति का तात्पर्य प्रतीत होता है, मन को ब्रह्म बताने में नहीं। इसी उपासना का नाम प्रतीकोपासना है।

## उपाध्युपासना

जिस प्रकार शरीर के ज्ञान से शरीरोपाधिविशिष्ट जीवात्मा का ज्ञान होता है, उसी प्रकार पूर्वोक्त सामर्थ्यविशिष्ट मन के ज्ञान से मन-उपाधिविशिष्ट परमात्मा का ज्ञान होना सुलभ होता है। और, जिस प्रकार शरीर में जो शरीरत्व है, शरीरोपाधि का उपाधेयभूत जो जीवात्मा है, वह तन्मूलक ही होता है, उसी प्रकार मन में जो पूर्वोक्त सामर्थ्यविशिष्ट मनस्त्व धर्म है, मन उपाधि का उपाधेयभूत जो परमात्मा है, वह भी तन्मूलक ही होता है। यहाँ शरीर और मन को उपाधि, अर्थात् विशेषण और जीवात्मा-परमात्मा को उपाधेय अर्थात् विशेष्य समझना चाहिए। इस प्रकार की उपासना का नाम 'उपाध्युपासना' है। इसका वर्णन 'मनोमयः प्राणशरीरः' इस छान्दोग्य श्रुति में किया गया है। इस उपासना में उपास्य देव की ही प्रधानता रहती है।

## ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है

उपासना में, जिस रूप से ब्रह्म की भावना का विधान श्रुति ने बताया है, वह सत्य, ज्ञान और अनन्तस्वरूप है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ( तै० उ० २।१।१ )। सत्य का अर्थ है त्रिकालाबाध्य, अर्थात् जिसका तीनों काल में कभी बाध न हो।

अनुग्राहक अथवा अग्रेसर है, उसके साथ उस प्रमाण-व्यक्ति के बाध्य-बाधक-भाव की शङ्का ही किस प्रकार उठ सकती है ? क्योंकि, ऐसे स्थलों में प्राणप्रद होने के कारण अथवा उपजीव्य या अनुग्राहक या अग्रेसर होने के कारण, नित्य-सम्बन्ध होने से, विरोध ही नहीं रहता, इसलिए यहाँ बाध्य-बाधक-भाव की सम्भावना ही नहीं है।

## शब्द-प्रमाण से श्रावण-प्रत्यक्ष का भी बाध

अब बाध्य-बाधक-भाव के प्रसंग में कुछ अनुपेक्षणीय आवश्यक विषयों का भी विवेचन किया जायगा। यह सर्व-सिद्धान्त है कि शब्द-प्रमाण की प्रवृत्ति, शब्द-विषयक श्रावण-प्रत्यक्ष के अधीन है। अर्थात्, जबतक शब्द का श्रावण-प्रत्यक्ष नहीं होता, तबतक शब्द-प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसी कारण, श्रावण-प्रत्यक्ष शब्द-प्रमाण का उपजीव्य सिद्ध होता है। इस अवस्था में यह आशङ्का होना स्वाभाविक है कि 'तत्त्वमसि', 'इदं सर्वं यदयमात्मा', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि अद्वैत-व्यवस्थापक जो अनेक श्रुतियाँ हैं, उनसे श्रावण-प्रत्यक्ष में प्रतीयमान जो ज्ञातृ-ज्ञेय-प्रयुक्त भेद है, उसका बाध होता है, अथवा नहीं ? यदि श्रुति-प्रमाण से श्रावण-प्रत्यक्ष में प्रतीयमान भेद का बाध मानें, तब तो उपजीव्य-विरोध हो जाता है, जिसका परिहार होना असम्भव है; क्योंकि ज्ञातृ-ज्ञेय-प्रयुक्त भेद का बाध मानने से प्रमाण का प्रमाणत्व ही नष्ट हो जाता है। यदि ज्ञातृ-ज्ञेय प्रयुक्त भेद का बाध न मानें, तब तो भेद के अबाधित होने से सत्य मानना होगा, जो अद्वैत-सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध हो जाता है।

इस दुर्घट समस्या को सुलझाने के लिए इस प्रकार विचार करना होगा—लोक में देखा जाता है कि कोई भी मनुष्य अपने उपजीव्य के विरोध में प्रवृत्त नहीं होता, या विरोध करने की इच्छा भी करता। परन्तु, कितने ऐसे भी महापुरुष हैं, जो अपने अवश्यम्भावी विनाश की ओर ध्यान न देकर परोपकार, या दूसरों को विपत्ति से उद्धार करने में सहर्ष प्रवृत्त हो जाते हैं। यहाँ विचारना यह है कि यदि परोपकार के लिए जो व्यक्ति सबसे बढ़कर प्रिय अपने प्राण को भी कुछ नहीं समझता, वह अपने उपजीव्य-विरोध के लिए क्यों ध्यान देगा। वह परोपकार में ही अपना परम कल्याण मानता है। उदाहरण के लिए—

देवदत्त नाम का एक बहुत गरीब व्यक्ति था। वह सुन्दर, सुशील और पढ़ा-लिखा विद्वान् था। वह अपने रोगी और अशक्त पिता तथा परम वृद्ध और अङ्गविकल पितामह का भिक्षा-वृत्ति से पालन करता था। एक समय परम समृद्ध कोई राजा यदृच्छया घूमते हुए वहाँ आ पहुँचे। उनके कोई पुत्र नहीं था, इसलिए एक सुयोग्य व्यक्ति को गोद लेना चाह रहे थे। देवदत्त के शील, सौन्दर्य और योग्यता से बहुत प्रभावित होकर राजा ने उसे गोद लेने के लिए उसके पिता से माँगा। पुत्रवत्सल पिता ने पुत्र की भलाई के लिए उसे राजा के अधीन कर दिया। पुत्र के हित को अपना प्रधान कर्त्तव्य मानकर उसके वियोग से अवश्य होनेवाली अपनी कष्टमयी दशा पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। यहाँ देवदत्त के पिता ने राजा के लिए देवदत्त का जो समर्पण किया, उससे देवदत्त के पिता के तुल्य ही उसके पितामह की

भी कष्टमयी दशा होने की सम्भावना है, फिर भी देवदत्त के पिता की उपजीव्य-विरोध-प्रयुक्त लोक में निन्दा नहीं होती, किन्तु पुत्रवत्सलता या परोपकारिता के कारण प्रशंसा ही होती है।

इस प्रकार, कितने देशभक्तों का उदाहरण प्रसिद्ध है, जिन्होंने देशोद्धार के लिए अपने असहाय माता-पिता को छोड़कर अपने प्राण तक को समर्पित कर दिया है। इससे भी उपजीव्य-विरोध-प्रयुक्त उनकी निन्दा नहीं होती, प्रत्युत उनके आदर के लिए स्मारक बनाये जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि उपजीव्य-विरोध वहीं होता है, जहाँ अपने किये हुए आचरण से अपनी भाविनी जो दशा है, उसकी अपेक्षा अधिक कष्टदायिनी अवस्था अपने उपजीव्य को प्राप्त हो। देवदत्त को देने से उसके पिता की जो दशा होनेवाली है उसकी अपेक्षा देवदत्त के पितामह की अधिक कष्टकर दशा की सम्भावना नहीं है, इसलिए यहाँ उपजीव्य-विरोध नहीं कहा जा सकता। अथवा यों कहिए कि अपने सुख के लिए किया गया जो आचरण है, उससे यदि अपने उपजीव्य की हानि होती हो, तो वहाँ उपजीव्य-विरोध होता है। यहाँ देवदत्त के पिता, या देश-भक्त अपने सुख के लिए कुछ आचरण नहीं करते, इसलिए यहाँ उपजीव्य-विरोध नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार, यहाँ प्रकृत में 'इदं सर्वं यदयमात्मा', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि आत्मैकत्वप्रतिपादक जो श्रुति है, वह, अद्वैतात्मसाक्षात्कार होने पर प्रमातृ-प्रमेय-भाव के विलय होने से अपना प्रमाणत्व भी नष्ट हो जायगा, यह जानती हुई भी माता के सदृश दया के परवश होकर मुमुक्षुजनों को आत्मसाक्षात्कार कराने के लिए प्रवृत्त हो जाती है। इस अवस्था में, अपने संरक्षण के लिए श्रुति का व्यापार यदि नहीं रहता, तो अपने उपजीव्य-प्रत्यक्ष-प्रमाण के संरक्षण में भी व्यापार नहीं होता, ऐसा समझना चाहिए।

निष्कर्ष यह कि आत्मैक्य-प्रतिपादक जो श्रुतियाँ हैं, वे वाच्य-वाचक-भाव-सम्बन्ध-प्रयुक्त भेद के द्वारा ही प्रवृत्त होती हैं, उसके प्रवृत्त होने के बाद उक्त सम्बन्ध-प्रयुक्त भेद क्षण-भर भी नहीं रह सकता, और उस भेद के अभाव में अपना अर्थात् श्रुति-प्रमाण का भी अभाव होना निश्चित है। इस प्रकार का निश्चित ज्ञान रहने पर भी श्रुति मुमुक्षुओं के हित ही अपना परम कर्त्तव्य समझती हुई, दया के परवश होने से, यह अवश्य मेरा कर्त्तव्य है यह मानकर, अवश्य होनेवाला अपने विनाश की ओर ध्यान नहीं देकर, जिज्ञासुओं को अद्वैत-तत्त्व का बोध कराने के लिए प्रवृत्त हो जाती है। इस परिस्थिति में, आगे होनेवाले किसी भी परिणामविशेष के ऊपर ध्यान न देने से अपने विनाश के सदृश ही अपने उपजीव्य श्रावण-प्रत्यक्ष के ऊपर भी ध्यान न होने के कारण, किसी प्रकार भी उपजीव्य-विरोध नहीं कह सकते। कारण यह है कि जो विरोध मानकर विरोध किया जाता है, वही विरोध कहा जाता है। स्तनन्धय बालक जो अपनी माता को लात मारता है, वह उपजीव्य-विरोध नहीं माना जाता। इसीलिए, उसकी माता क्रुद्ध नहीं होती, प्रत्युत बदले में चुम्बन के द्वारा अपना प्रेम ही दिखाती है। इस प्रकार, अद्वैतप्रतिपादक श्रुति से अपना उपजीव्य श्रावण-प्रत्यक्ष में

रहनेवाला जो ज्ञातृ-ज्ञेय-सम्बन्ध-प्रयुक्त-भेद का प्रत्यक्ष है, उसका बाध होने पर भी उपजीव्य-विरोध नहीं होता।

इस अवस्था में, भेदग्राही प्रत्यक्ष और अभेदग्राहिणी श्रुति, इन दोनों में कौन प्रबल है और कौन दुर्बल, और कौन बाधक है, कौन बाध्य ? इस प्रकार का पूर्वोक्त प्रश्न उसी प्रकार रह जाता है। इसका विचार किया जायगा।

## बाध्य-बाधक-भाव में स्थूल विचार

बाध्य-बाधक-भाव के विषय में साधारण स्थूलबुद्धिवाले मनुष्य इस प्रकार आलोचना करते हैं—'इदं सर्वं यदयमात्मा' यह जो श्रुति है, वह सब काल में आत्मैक्य अर्थात् अभेद का प्रतिपादन करती है, इसलिए वह वर्त्तमानकालिक भेदग्राही प्रत्यक्ष से विरुद्ध होती है। और, 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' यह श्रुति सृष्टि के पहले आत्मैक्य (अभेद)-प्रतिपादन करती है। इसलिए, वह प्रत्यक्ष से विरुद्ध नहीं होती; क्योंकि उस समय प्रत्यक्ष होना असम्भव है। किन्तु, प्रत्यक्षमूलक अनुमान प्रमाण से विरुद्ध होता है। अनुमान का प्रकार यह है—'प्रमाता (पक्ष) पूर्वमपि प्रमेयाद्भिन्नः (साध्य), प्रमातृत्वात् (हेतु), इदानीन्तनप्रमातृवत् (दृष्टान्त)।' अर्थात्, प्रमाता पहले भी प्रमेय से भिन्न होगा और प्रमाता होने के कारण, वर्त्तमानकालिक प्रमाता के समान। अथवा—'प्रमेयम्, प्रमातुः सकाशात् पूर्वमपि भिन्नम्, प्रमेयत्वात्, इदानीन्तन-प्रमेयवत्'—अर्थात् प्रमेय, प्रमाता से पहले भी भिन्न था, प्रमेय होने के कारण। जो-जो प्रमेय होता है, वह प्रमाता से भिन्न ही होता है, इस समय के प्रमेय के सदृश। इस प्रकार, दोनों अनुमानों से श्रुति विरुद्ध होती है। अतएव, श्रुति कहीं प्रत्यक्ष से विरुद्ध होती है, और कहीं अनुमान से।

अब यहाँ यह विचार उपस्थित होता है कि केवल एक श्रुति से प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों का बाध होगा, या इन दोनों से एक श्रुति का ? अर्थात्, दो से एक प्रबल है, या एक से दो ? इस प्रश्न के उत्तर में किसी का मत है कि एक की अपेक्षा दो को प्रबल मानना उचित है। लोक में भी एक की अपेक्षा दो की बात अधिक मानी जाती है। इसलिए, 'प्रमाणद्वयाऽनुग्रहो न्याय्यः'—इस न्याय से प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों से एक श्रुति का ही बाध मानना समुचित होगा। अतएव, प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध श्रुति को गौणार्थ मानकर किसी प्रकार से अपने सिद्धान्त के अनुसार उसका अर्थ लगाया जाता है।

## बाध्य-बाधक-भाव में सूक्ष्म विचार

परन्तु, सूक्ष्म विचार करनेवाले मेधावियों के इस कथन पर है कि दो से एक का बाध होता है, या एक से दो का, विचार करना उचित नहीं है। क्योंकि, नेत्रवाला एक ही पुरुष यदि सूर्योदय का होना बताता है, तो उसके सामने हजारों रात माननेवाले अन्धों की बात प्रमाण नहीं होती। इस अवस्था में, निर्णय किस प्रकार किया जाय, यह विचार उपस्थित होता है। इस विषय में सबसे पहले यह विचारना है कि जगत् का मूल कारण एक है या अनेक ? इसके निर्णय के बाद ही

वर्त्तमान वस्तुओं का निर्णय करना सुलभ है। और, मूल तत्त्व का अन्वेषण प्रत्यक्ष प्रमाण से हो नहीं सकता; क्योंकि इन्द्रियों की गति ही नहीं है। केवल श्रुति-अनुमान की ही वहाँ गति हो सकती है। वहाँ भी श्रुति को यदि मुख्य मानें और अनुमान को उसका पार्षद, तब तो अनुमान की अपेक्षा श्रुति ही प्रबल होगी।

इन सम्भावित दोनों पक्षों में कौन युक्त है ? इस प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि मतभेद से दोनों ही पक्ष ठीक हो सकते हैं। कारण यह है कि भारतीय दर्शनकार दो प्रकार के हुए हैं—एक श्रौत और दूसरा तार्किक। मूल तत्त्व के अन्वेषण में जो श्रुति को ही सबसे बढ़कर प्रधान साधन मानते हैं, वे ही श्रौत कहे जाते हैं। श्रौतों का कहना है कि मूल तत्त्व का अनुसन्धान करना श्रुति के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से असम्भव है। इसीलिए, ये वेदवादी कहे जाते हैं। वेदान्तियों का भी यह मुख्य सिद्धान्त है। अत्यन्त परोक्ष जो जगत् का मूल कारण है, उसका निश्चय ये लोग श्रुति की ही सहायता से करते हैं। श्रुति से सिद्ध अर्थ यदि अनुमान से विरुद्ध या असम्भव प्रतीत हो, तो भी वही सत्य है, ऐसा इनका दृढ़ विश्वास है। इसी अभिप्राय से सायण माधवाचार्य ने वैदिकों के विषय में कहा है कि, 'न हि वेदप्रतिपादितेऽर्थेऽनुपपन्ने वैदिकानां बुद्धिः खिद्यते, अपितु तदुपपादनमार्गमेव विचारयन्ति', अर्थात् वेद-प्रतिपादित अर्थ के अनुपपन्न या असम्भव प्रतीत होने पर भी वैदिकों की बुद्धि खिन्न नहीं होती है, प्रत्युत वे उसके उपपादन-मार्ग का ही अन्वेषण करते हैं। यदि कोई अनुमान के द्वारा श्रुति-विरुद्ध अर्थ को सिद्ध करे, तो उसको ये लोग नहीं मानते, और उस अनुमान को भी 'अनुमानाभास' कहते हैं। इसी प्रकार, श्रुति से विरुद्ध स्मृति भी इनके मत में प्रमाण नहीं मानी जाती है। मीमांसा-शास्त्र के प्रवर्त्तक महर्षि जैमिनि भी श्रौत ही हैं। इसलिए, उन्होंने 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमाने', 'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थानसमाख्यानां पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' इत्यादि सूत्रों के द्वारा सब प्रमाणों की अपेक्षा श्रुति को ही अभ्यर्हित प्रमाण माना है।

जैमिनि के सदृश ही पाणिनीय भी श्रौत ही हैं। इसीलिए, अक्षरसमाम्नायमूलक सूत्र को भी वेद की तरह प्रमाण और अपरिवर्त्तनीय मानते हैं। 'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति', 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' यह पाणिनीयों का परम सिद्धान्त है। इससे सूत्र का भी सब प्रमाणों से अभ्यर्हित होना सिद्ध होता है। श्रुति के विषय में पाणिनीयों का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में लिखा है—

'न चागमादृते धर्मः तर्केण व्यवतिष्ठते।
ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमहेतुकम् ॥१॥
धर्मस्य चाव्यवच्छिन्नाः पन्थानो ये व्यवस्थिताः।
नतांँल्लोकप्रसिद्धत्वात् कश्चित्तर्केण बाधते ॥२॥
अवस्थादेशकालानां भेदाद्भिन्नासु शक्तिषु।
भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरति दुर्लभा ॥३॥
चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेदेन वर्त्तते।
आगमस्तमुपासीनो हेतुवादैर्न बाध्यते ॥४॥'

तात्पर्य यह है कि आगम, अर्थात् वेद या श्रुति, के बिना केवल तर्क से धर्म की व्यवस्था नहीं कर सकते। ऋषियों का भी ज्ञान श्रुतियों के ही कारण है ॥१॥ धर्म का जो मार्ग संसार में अनादि काल से अविच्छिन्न रूप में व्यवस्थित है, लोक में प्रसिद्ध होने के कारण उसका किसी से बाध नहीं होता ॥२॥ अवस्था, देश और काल के भेद से पदार्थों की शक्ति विभिन्न प्रकार की हो जाती है, जैसे विलक्षणशक्तिशाली व्यक्ति भी परिस्थितिवश दुर्बल या निर्बल हो जाता है। युवावस्था का बल वृद्धावस्था में नहीं रहता। देश के भेद से, हिमालय का जल जिस प्रकार शीतल होता है, राजगृह-अग्निकुण्ड का जल जैसे उष्ण होता है, उस प्रकार अन्य देश का नहीं होता। काल भेद से, जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में सूर्य या आग का तेज असह्य होता है, उस प्रकार शीतकाल में नहीं। इस प्रकार अवस्था, देश और काल के भेद से पदार्थों की शक्ति में भेद होने के कारण अनुमान से उसकी सिद्धि अत्यन्त दुर्लभ है ॥३॥ जिस प्रकार अहं, मम, अर्थात् मैं, मेरा, इस प्रतीति में अनुगत रूप से भासमान जो चैतन्य है, उसका किसी प्रमाण से बाध नहीं होता, उसी प्रकार श्रुति-स्मृति-लक्षण जो आगम अविच्छिन्न प्रवाह-रूप में सनातन काल से चला आ रहा है, उसकी उपासना करनेवाले किसी भी तर्क के द्वारा विचलित नहीं किये जा सकते ॥४॥

इसी प्रकार, भाष्यकार पतञ्जलि ने भी कहा है—'शब्दप्रमाणका वयम्, यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्', अर्थात् हमलोग शब्दप्रमाण माननेवाले हैं, जो शब्द (वेद) कहता है, वही हमारे लिए प्रमाण है। इस प्रकार, अनेक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि पाणिनीय भी पूर्ण वैदिक अर्थात् श्रौत हैं। ब्रह्मसूत्रकार बादरायण भी श्रौत ही हैं। इसीलिए, उन्होंने वेदान्त-सूत्र में 'शास्त्रयोनित्वात्', 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' इत्यादि सूत्रों की रचना की है। पहले सूत्र में, अचिन्त्य ब्रह्म में श्रुति को ही सर्वाभ्यर्हित प्रमाण माना है। द्वितीय सूत्र से ब्रह्म को निरवयव या सावयव मानने में कृत्स्न-प्रसक्ति और निरवयवत्व शब्दकोप का जो आक्षेप किया गया है, उसका समाधान केवल श्रुति-प्रमाण से ही किया गया है। महाभारत में भी व्यासदेव ने कहा है—'अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेत्' (भीष्म-पर्व, ५।१२)। अर्थात्, जो वस्तु अचिन्त्य, अथवा मन और बुद्धि से परे है, उसका साधन तर्क के बल पर न करे। इसलिए, अचिन्त्य पदार्थों के विषय में श्रुतिविरुद्ध अर्थ के साधन के लिए जो भी हेतु दिखाये जाते हैं, उन सब को 'हेत्वाभास' समझना चाहिए। नैयायिकों के मत में भी सब हेतु को 'सत् हेतु' ही नहीं माना गया है, उनके यहाँ भी 'हेत्वाभास' माना जाता है। इस प्रकार, विशुद्ध श्रौत-दर्शनकार तीन ही माने जाते हैं—मीमांसासूत्रकार जैमिनि, ब्रह्मसूत्रकार व्यासदेव और व्याकरणसूत्रकार पाणिनि।

## तार्किक दर्शनकार

उपर्युक्त श्रौत-दर्शनकारों के अतिरिक्त अन्य सभी दर्शनकार तार्किक कहे जाते हैं। मूल तत्त्व के अन्वेषण में प्रधान साधन तर्क ही है। तर्क के बिना मूल तत्त्व का अन्वेषण

दुष्कर है, इस प्रकार जो अनुमान करनेवाले हैं, वे तार्किक कहे जाते हैं। तर्क का अभिप्राय अनुमान ही है।

यद्यपि तार्किकों के मत में भी श्रुति को प्रमाण माना गया है, तथापि श्रुति की अपेक्षा अनुमान को ही इनके मत में मुख्य प्रमाण माना गया है। अनुमान का अनुसरण करनेवाली अनुमान से अविरुद्ध जो श्रुति है, उसी को प्रमाण माना जाता है। और, अनुमान से विरुद्ध जो श्रुति है, उसका गौण अर्थ मानकर अनुमानानुसार ही अर्थ लगाया जाता है। स्पष्ट प्रतीयमान मुख्य अर्थ को नहीं माना जाता। उदाहरण के लिए नैयायिक और वैशेषिक, आकाश को अनुमान-प्रमाण से नित्य सिद्ध करते हैं। जैसे—'आकाशं नित्यम्, निरवयवत्वात्; यन्निरवयवं तन्नित्यम्, परमाणुवत्'; अर्थात् आकाश नित्य है, निरवयव होने से, जो निरवय होता है, वह नित्य होता है; जैसे परमाणु। इसी अनुमान से इनके मत में आकाश को नित्य सिद्ध किया जाता है। इस अवस्था में 'एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः' (तै० उ० २।१।१), इस श्रुति से विरोध हो जाता है; क्योंकि उक्त श्रुति में आत्मा से आकाश की उत्पत्ति बताई गई है, और उत्पन्न पदार्थ नित्य होता ही नहीं, अतएव श्रुति से विरोध होना स्वाभाविक है। इस विरोध के परिहार के लिए, उक्त श्रुति में 'संभूतः' का अर्थ 'उत्पन्नः' न कर 'अभिव्यक्तः' किया जाता है। अर्थात्, आत्मा से आकाश की अभिव्यक्ति हुई, उत्पत्ति नहीं, यह अर्थ नैयायिक और वैशेषिक किया करते हैं।

इसी प्रकार, वर्त्तमानकाल में, चेतन और अचेतन में जो भेद प्रतीत होता है, या परस्पर चेतन में भी जो नानात्व प्रतीत होता है, इसी दृष्टान्त से सृष्टि के पूर्वकाल में भी चेतन, अचेतन और परस्पर चेतन में भी भेद या नानात्व, प्रायः सब नैयायिक और वैशेषिक मानते हैं। इस अवस्था में 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० आ० २।४।६), इस श्रुति से विरोध हो जाता है; क्योंकि यह श्रुति स्पष्ट अभेद-प्रतिपादन करती है। इस विरोध के परिहार के लिए आत्मा का मुख्य अर्थ आत्मस्वरूप न मानकर आत्माधीन अर्थ किया जाता है। अर्थात्, यह सकल प्रपञ्च आत्मा के अधीन है। इस प्रकार श्रुति के मुख्य अर्थ को छोड़कर अनुमान से सिद्ध अर्थ के अनुकूल गौण अर्थ को मानने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मूल कारण के अन्वेषण में श्रुति-प्रमाण की अपेक्षा अनुमान को ही नैयायिक और वैशेषिक प्रधान साधन मानते हैं।

इसी प्रकार, श्री रामानुजाचार्य और श्री माध्वाचार्य आदि विद्वानों ने भी श्रुति की अपेक्षा अनुमान को ही प्रबल और मुख्य प्रमाण माना है। वर्त्तमानकाल में प्रतीयमान जो भेद है, उसके दृष्टान्त से सृष्टि के पूर्वकाल में भी ये लोग नैयायिकों की तरह भेद मानते हैं। इसीलिए, जीव और ब्रह्म में अभेद-प्रतिपादक जो 'तत्त्वमसि' महावाक्य है, उसका भी भेद-परक अर्थ ही इन लोगों ने किया है। यह 'तत्त्वमसि' श्रुति अज्ञातार्थ-ज्ञापिका मानी जाती है। अर्थात्, अज्ञात जो जीव और ब्रह्म का ऐक्य है, उसकी ज्ञापिका अर्थात् बोध करानेवाली यह श्रुति है। इसका मुख्य स्पष्ट प्रतीयमान अर्थ है—तत् (ब्रह्म) त्वम् (जीवात्मा) असि (हो); अर्थात् वहीपूर्वोक्त

ब्रह्म तुम हो। इस प्रकार, शब्द से स्पष्ट प्रतीयमान जो मुख्य अर्थ है, उसको छोड़कर तर्क से सिद्ध जीव और ब्रह्म के भेद को स्थापित करने के लिए, इनके मत में, अनेक प्रकार के अनुमान के अनुसार, विभिन्न प्रकार के अर्थ लगाये जाते हैं। इन द्वैत-वादियों का भी परस्पर एकमत नहीं है। कोई ब्रह्म के साथ जीव के सम्बन्ध-बोधन में श्रुति का तात्पर्य मानते हैं; और कोई जीव के साथ ब्रह्म के शरीर-बोधन में। कोई ब्रह्म के अधीन जीव है, ऐसा अर्थ करते हैं और कोई ब्रह्म के अत्यन्त सदृश जीव है, इस अर्थ में श्रुति का तात्पर्य समझते हैं। इस प्रकार, तर्क के आधार पर श्रुति के भी विभिन्न प्रकार के अर्थ इन लोगों ने किये हैं।

वास्तविक बात तो यह है कि अदृष्ट वस्तु की सिद्धि के लिए श्रुति को आधार माने बिना केवल तर्क के आधार पर एक निश्चित वस्तु को किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं कर सकते। इसलिए, तर्क को प्रधानता देने के कारण श्रुति का अर्थ लगाने में तार्किकों का ऐकमत्य न होना स्वाभाविक हो जाता है।

## सांख्याचार्य का तर्काग्रह

सांख्याचार्य महामुनि कपिल भी तार्किक ही हैं। उनका कहना है कि यद्यपि जगत् का मूल कारण अत्यन्त सूक्ष्म है, तथापि वह साध्य नहीं है, किन्तु सिद्ध है। साध्य वस्तु में प्रमाण का अवकाश न होने पर भी सिद्ध वस्तु में प्रमाण का अवकाश अनिवार्य है। उदाहरण के लिए किसी ने कहा—'मोहन आयगा।' अब यहाँ विचारना है कि प्रयोक्ता का यह वाक्य, सत्य है अथवा मिथ्या ? दोनों में एक का भी निश्चय प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं कर सकते; क्योंकि उस समय तक आगमन निष्पन्न नहीं हुआ है, जिससे प्रत्यक्ष के कारण इन्द्रिय-सन्निकर्ष हो। दूसरे शब्दों में, वर्त्तमान का ही प्रत्यक्ष होता है, भूत-भविष्य का नहीं। और, अनुमान का भी अवकाश नहीं है, कारण यह है कि कार्य से कारण का अनुमान किया जाता है, और यहाँ अभी तक आगमन के निष्पन्न न होने से अभी तक कुछ कार्य नहीं हुआ है, जिससे आगमन का अनुमान किया जाय। परन्तु जहाँ आगमन सिद्ध है—जैसे, 'मोहन आ गया', वहाँ प्रमाण की गति सुलभ हो जाती है; क्योंकि आगम-क्रिया के निष्पन्न होने से प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों की गति सुलभ है।

इसी प्रकार, जगत् का मूल कारण सिद्ध है, इसलिए प्रमाण का अवकाश होता है। यद्यपि जगत् का मूल कारण अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिए प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता, तथापि अनुमान की गति को कोई भी नहीं रोक सकता। कार्य को देखकर उसी के अनुरूप कारण का भी निश्चय कर लेना, लोक-प्रसिद्ध भी है। इनके मत की एक और भी विशेषता है, कि जगत् के मूल कारण के बोध कराने में अनुमान का प्रवेश हो सकता है, इतना ही इनका सिद्धान्त नहीं है; प्रत्युत, मूल-कारण के बोध कराने में अनुमान के अतिरिक्त दूसरे प्रमाण की गति नहीं हो सकती, यहाँ तक इनकी मान्यता है। इनके मत में श्रुति भी अनुमान के द्वारा ही मूलतत्त्व के बोध कराने में प्रवृत्त होती है। उदाहरण के लिए : अरुण के पुत्र उद्दालक ने अपने

पुत्र श्वेतकेतु के प्रति कहा है—'तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितं सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति' ( छा० उ० ६।८।३ )।

अर्थात्, हे सोम्य! उस जल से ही इस शरीर-रूप शुङ्ग अर्थात् अंकुर को उत्पन्न हुआ समझो; क्योंकि यह निर्मूल, अर्थात् कारण-रहित नहीं हो सकता।

इसके बाद भी पुनः श्रुति कहती है—'तस्य क्व मूलं स्यादन्यत्रास्मादन्नादेवमेव खलु सोम्य! अन्नेन शुङ्गेनापोमूलमन्विच्छ, अद्भिः सोम्य! शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ, तेजसा सोम्य! शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ, सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' (छा० ६।८।४)। अर्थात्, अन्न को छोड़कर इस शरीर का मूल कहाँ हो सकता है? इसी प्रकार तू अन्नरूप शुङ्ग (अंकुर) से जलरूप शुङ्ग और जलरूप शुङ्ग से तेजरूप शुङ्ग और तेजरूप शुङ्ग से सद्रूप मूलतत्त्व का अनुसन्धान करो। हे सोम्य! इस प्रकार यह सारी प्रजा सन्मूलक ही है, सत् ही इसका आश्रय है, और सत् ही प्रतिष्ठा। इस प्रकार दृश्यमान शरीर-रूप स्थूल कार्य के द्वारा सूक्ष्म कारण का बोध कराती हुई श्रुति, परम सूक्ष्म मूलतत्त्व सत् के बोध कराने में अनुमान के द्वारा ही प्रवृत्त होती है। इसी प्रकार, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' ( तै० ३।१।१ ) इत्यादि श्रुति भी अनुमान के साधन कार्यकारणभाव को बताती हुई अनुमान के द्वारा ही मूलकारण परमात्मा का बोध कराती है। यहाँ 'इमानि' (इदम्) शब्द के प्रयोग से भूत और भौतिक सकल प्रपञ्च-रूप कार्य को अंगुल्या निर्देश करती हुई श्रुति, हेतु के निर्देश से अनुमान द्वारा मूल कारण के अन्वेषण में अपना तात्पर्य बताती है।

इससे यह सिद्ध होता है कि मूल कारण के अन्वेषण में अनुमान का अनुसरण करनेवाली श्रुति भी स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त नहीं हो सकती, किन्तु अनुमान के द्वारा ही प्रवृत्त होती है। इसलिए, इनका सिद्धान्त है कि जगत् का मूलकारण अनुमान से ही सिद्ध हो सकता है, दूसरे प्रमाण से नहीं। भूत और भौतिक कार्य के अनुसार, उसके अनुरूप ही जगत् का मूल कारण त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति नाम का तत्त्व, जिसको सांख्यों ने मूल कारण माना है, केवल अनुमान-प्रमाण से सिद्ध होने के कारण आनुमानिक भी कहा जाता है। अनुमान-प्रमाण के ऊपर इनका इतना अधिक पक्षपात है कि इनका व्यवहार प्राचीन ग्रन्थों में 'आनुमानिक' शब्द से भी किया गया है।

## पातञ्जल की तार्किकता

योगसूत्र के प्रणेता भगवान् पतञ्जलि भी तार्किक ही कहे जाते हैं। ये भी कपिल के सदृश ही जगत् के मूल कारण-प्रधान को अनुमान के द्वारा ही तर्क-प्रधान सिद्ध करते हैं। इसके अतिरिक्त इनका यह भी कहना है कि शब्द-प्रमाण ग्रन्थों में श्रुति-स्मृति आदि जितने प्रमाण-ग्रन्थ हैं, उनमें श्रुति सबकी अपेक्षा प्रमाण मानी जाती है। और, वह श्रुति भी ईश्वर की बनाई हुई है। अब यहाँ यह विचार होता है कि जब वेद ईश्वर का बनाया हुआ है, तो वेद बनाने से पूर्व ईश्वर को त्रिलोकवर्त्ती

अतीत और अनागत पदार्थों का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। क्योंकि, कोई भी ग्रन्थकर्त्ता ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान-प्रमाण के द्वारा प्राप्त करने के बाद ही दूसरे को समझाने के लिए तज्ज्ञानबोधक वाक्य-निबन्ध की रचना करता है।

सम्भव है कि ईश्वर ने भी प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा ही सकल पदार्थों का मन में अनुसन्धान करके ही वेद की रचना की हो। इसमें भी प्रत्यक्ष की अपेक्षा अनुमान से ही अधिक ज्ञान प्राप्त किया हो, यह भी स्पष्ट ही है। क्योंकि, अनुमान की गति प्रत्यक्ष की अपेक्षा बहुत अधिक है। इस स्थिति में, वेद भी अधिक अंशों में अनुमानमूलक ही है, यह सिद्ध हो जाता है। इसलिए, श्रुति की अपेक्षा अनुमान की ही प्रधानता पतञ्जलि ने भी मानी है और अनुमान में तर्क ही प्रधान है, इसलिए ये भी तार्किक कहे जाते हैं।

## नैयायिकों का तर्काग्रह

गौतम-सूत्र के अनुयायी नैयायिक तो प्रसिद्ध तार्किक हैं। इनके मत में भी जगत् के मूलतत्त्व के अन्वेषण में तर्क ही प्रधान साधन है, ऐसा माना जाता है। यद्यपि इनके मत में जगत् के मूल कारण के बोध कराने में स्वतन्त्रतया भी श्रुति समर्थ होती है, फिर भी ये तार्किक नहीं हैं, ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि, 'द्यावाभूमी जनयन् देव एकः आस्ते' (श्वे० ३।३) इत्यादि श्रुति जगत् के मूल कारण के बोध कराने में स्वतन्त्रतया प्रवृत्त होती है, फिर भी अनुमान के द्वारा मूलतत्त्व के बोधित होने के बाद ही उसके अर्थ का अनुभव कराने में समर्थ होती है।

एक बात और भी है कि शब्द ऐतिह्य-मात्र से अर्थ को कहता है, इसलिए श्रवण-मात्र से श्रोताओं के हृदय में अर्थ का अनुभव नहीं कराता। और, अनुमान में यह विशेषता है कि प्रत्यक्ष दृष्टान्त के प्रदर्शन से सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अर्थ का भी अनुभव कराने में वह समर्थ होता है। मूल कारण-रूप जो सूक्ष्म अर्थ है, उसका बुद्धि पर आरोहण तर्क के ही द्वारा होता है, इस प्रकार मानने से ये भी तार्किक ही हैं, यह सिद्ध होता है।

## वैशेषिक भी तार्किक हैं

वैशेषिकों के तार्किक होने में तो कोई सन्देह ही नहीं है; क्योंकि, ये शब्द को पृथक् प्रमाण मानते ही नहीं। विश्वनाथ भट्ट ने 'भाषा-परिच्छेद' में स्पष्ट लिखा है—

'शब्दोपमानयोर्नैव पृथक् प्रामाण्यमिष्यते।
अनुमानगतार्थत्वादिति वैशेषिकं मतम्॥'

इसका तात्पर्य यह है कि शब्द और उपमान, इन दोनों को पृथक् प्रमाण नहीं माना जाता। क्योंकि, ये दोनों अनुमान में ही गतार्थ हो जाते हैं, यह वैशेषिकों का मत है। इनमें यही विशेषता है कि ये शब्द को अप्रमाण नहीं मानते, किन्तु शब्द अनुमान का साधन होने से अनुमान में ही गतार्थ है, अनुमान से पृथक् नहीं है, यही इनका तात्पर्य है। इसीलिए, नास्तिकों में इनकी गणना नहीं होती; क्योंकि ये

श्रुति को अप्रमाण नहीं मानते। श्रुति को प्रमाण नहीं माननेवाले ही नास्तिक कहे जाते हैं। इनका कहना इतना ही है कि प्रमाणत्वेन अभिमत जितने शब्द हैं, वे अनुमान के साधनीभूत हैं; अर्थात् अनुमान के द्वारा ही अपने अर्थ का सत्यतया बोध कराते हैं। इसलिए, अनुमान में ही इनका अन्तर्भाव हो जाता है। पृथक् प्रमाण में इनकी गणना नहीं होती।

## आस्तिक और नास्तिक

जो तार्किक श्रुति-प्रमाण को नहीं मानते, वे ही नास्तिक कहे जाते हैं। श्रुति-प्रमाण के अविरोधी जो तार्किक हैं, वे आस्तिक कहे जाते हैं। इन आस्तिक तार्किकों के अतिरिक्त जो तार्किक हैं, जैसे—जैन, बौद्ध, कापिल आदि, वे नास्तिक माने जाते हैं। क्योंकि, वेद को जो प्रमाण नहीं मानता, वही नास्तिक है। इनकी श्रद्धा वेद में कुछ भी नहीं रहती, केवल तर्क के बल से ही मूलतत्त्व के अनुसन्धान में प्रवृत्त होते हैं।

यहाँ तक प्रासङ्गिक बातों को दिखाकर प्रकृत के ऊपर विचार किया जायगा। श्रुति और अनुमान इन दोनों में कौन प्रबल है और कौन दुर्बल, इस प्रश्न के उत्तर में मतभेद से दोनों ही प्रबल और दोनों ही दुर्बल हो सकते हैं, यह पहले बता चुके हैं। परन्तु, यह किस प्रकार सम्भव है, इसके ऊपर विचार किया जायगा।

श्रौत दर्शनकारों के मत से अनुमान की अपेक्षा श्रुति प्रबल होती है, और तार्किकों के मत में श्रुति की अपेक्षा अनुमान प्रबल होता है। श्रौत दर्शनकार सब आस्तिक हैं, और केवल तार्किकों में आस्तिक और नास्तिक दो भेद हैं।

## श्रौतों और तार्किकों में मूल भेद

जहाँ दो श्रुतियों में परस्पर विरोध प्रतीत हो, वहाँ किसी एक का गौण अर्थ मानना ही होगा, ऐसा सब दर्शनकारों ने स्वीकार भी किया है। और, जहाँ श्रुति और अनुमान में विरोध प्रतीत हो, वहाँ ही दो मतभेद उपस्थित होते हैं। एक का कहना है कि श्रुति और अनुमान में परस्पर मतभेद होने पर अनुमान को ही आभासी मानना समुचित है, इस अवस्था में श्रुति को किसी प्रकार भी गौणार्थ मानना उचित नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि अनुमान परतः प्रमाण है; क्योंकि अनुमान का प्रामाण्य सद्व्याप्ति के अधीन है। इसीलिए, तार्किकों ने भी अनुमान को परतः प्रमाण माना है। और, श्रुति स्वतः प्रमाण है। इस अवस्था में स्वतः प्रमाण-भूत श्रुति, परतः प्रमाण-भूत अनुमान का अनुसरण नहीं कर सकती, किन्तु अनुमान का ही श्रुति का अनुसरण करना युक्त और समुचित है। इस प्रकार जो श्रुति को, स्वतः प्रमाण मानकर, अनुमान की अपेक्षा प्रबल मानते हैं, वे 'श्रौत' कहे जाते हैं। और, जो श्रुति को भी परतः प्रमाण मानते हैं, उनके मत में श्रुति और अनुमान में परस्पर विरोध होने पर अनुमान को ही कभी आभासी माना जाता है, और कभी श्रुति का ही गौण अर्थ मानकर अनुमान का अनुसरण कराया जाता है। इस प्रकार, श्रुति को भी जो परतः प्रमाण मानते हैं, वे ही दर्शनकार तार्किक कहे जाते हैं, जैसे—गौतम, कणाद आदि। इसलिए,

श्रुति का स्वतःप्रामाण्य मानना श्रौत होने का और परतःप्रामाण्य मानना तार्किक होने का बीज है।

अब यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि वेद के स्वतःप्रामाण्य या परतःप्रामाण्य में मतभेद क्यों हुआ? इसका उत्तर यही होता है कि जिसके मत में वेद अपौरुषेय, अर्थात् किसी पुरुष-विशेष से रचित नहीं है, इस प्रकार की निश्चित धारणा जिनको होती है, उनके मत में उसका स्वतःप्रामाण्य स्वयं सिद्ध हो जाता है। और, जिनके मत में वेद पौरुषेय, अर्थात् पुरुषविशेष से रचित है, उनके मत में उसका परतःप्रामाण्य भी सिद्ध होता है।

शब्द का प्रामाण्य, शब्द के प्रयोक्ता आप्त पुरुष के अधीन है। यथार्थवादी को आप्त कहते हैं। यहाँ पुरुष शब्द से ईश्वर लिया जाता है। ईश्वर ही सबकी अपेक्षा आप्ततम होता है। इसीलिए, ईश्वर-रचित होने के कारण ही वेद का प्रामाण्य माना जाता है। अतएव, आप्तों के मत में वेद का परतःप्रामाण्य सिद्ध होता है। इस प्रकार दर्शनकारों या दर्शनों में भेद होने का क्या कारण है, इस विचार में सबका मूल कारण वेद का पौरुषेयत्व या अपौरुषेयत्व होना ही सिद्ध होता है।

## पौरुषेयत्व और अपौरुषेयत्व का विचार

अब यह जिज्ञासा होती है कि वास्तव में वेद पौरुषेय है, अथवा अपौरुषेय? और दोनों में कौन युक्त है? क्या ईश्वर ने वेद की रचना की है? जैसे व्यास ने महाभारत की या कालिदास ने रघुवंश की? या ईश्वर ने वेद को प्रकाशित किया है, जैसे प्राचीन पुस्तकों का आज प्रकाशन होता है? इन दोनों पक्षों में यदि वेद को ईश्वर से प्रकाशित माना जाय, तो वेद का अपौरुषेयत्व सिद्ध होता है, और यदि ईश्वर से रचित माना जाय, तब तो पौरुषेयतत्व सिद्ध होता है। इन दोनों में कौन पक्ष युक्त है, इस विषय में श्रुति के आधार पर ही विचार करना समुचित प्रतीत होता है। श्रुति कहती है—'तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः यजुर्वेदः सामवेदः' (बृ० २।४।१०) इत्यादि श्रुति में परमात्मा के निःश्वास से वेद का उद्भव माना गया है। यहाँ विचारना यह है कि लोक में निःश्वास अनायास, अर्थात् विना परिश्रम देखा जाता है। और, अबुद्धि-पुरःसर भी देखा जाता है, अर्थात् निःश्वास लेने में बुद्धि का व्यापार कुछ भी नहीं रहता।

अतएव, यदि वेद को ईश्वर से रचित मानें, तो वेद की रचना में ईश्वर का किसी प्रकार अनायास, अर्थात् परिश्रम का अभाव मान सकते हैं। यद्यपि दृष्ट, अदृष्ट, स्थूल, सूक्ष्म, मूर्त्त, अमूर्त्त, चेतन और अचेतन आदि सकल पदार्थ के अवभासक वेद की रचना में परिश्रम का होना अनिवार्य है, तथापि परमात्मा के अचिन्त्यशक्तिमान् होने के कारण सर्वार्थावभासक वेद की रचना में प्रयास का अभाव भी सम्भावित है। परन्तु, अबुद्धि-पुरःसर वेद की रचना होना नहीं बनता। तात्पर्य यह है कि स्वतन्त्र वाक्य-रचना में बुद्धि का कुछ व्यापार अत्यावश्यक होता है। विना बुद्धि लगाये किसी स्वतन्त्र वाक्य की रचना नहीं हो सकती, इसलिए वेद की रचना में निःश्वसित-न्याय से

प्राप्त अबुद्धि-पुरःसरत्व का होना युक्त नहीं होता है। इसलिए, बुद्धि-पुरःसरत्व की उपपत्ति के लिए वेद को ईश्वर-रचित न मानकर ईश्वर से प्रकाशित ही मानना समुचित होता है। ईश्वर से प्रकाशित मानने में अनायासत्व और अबुद्धि-पुरःसरत्व, दोनों का सामञ्जस्य हो जाता है। प्रकाशित मानने से वेद अपौरुषेय भी सिद्ध होता है।

और भी, जो दर्शनकार अदृष्ट और दृष्ट की सिद्धि अनुमान-प्रमाण के द्वारा ही करते हैं, वे यह भी मानते हैं कि वेद से अन्यत्र कहीं भी अबुद्धि-पुरःसर वाक्य की रचना नहीं देखी जाती, इसलिए वेद की रचना बुद्धि-पुरःसर ही है, अर्थात् बिना बुद्धि-व्यापार के वेद की रचना नहीं हो सकती, इस प्रकार के दर्शनकार, श्रुति में जो निःश्वसित उक्ति है, उसका अनायास-मात्र अर्थ में तात्पर्य मानकर किसी प्रकार श्रुति का सङ्गमन करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिनके मत में निःश्वसित शब्द का अनायास-मात्र अर्थ होता है, अबुद्धि-पुरःसर नहीं, उनके मत में वेद पौरुषेय सिद्ध होता है। और, जो निःश्वसित शब्द का अनायास और अबुद्धि-पुरःसर दोनों अर्थ मानते हैं, उनके मत में वेद अपौरुषेय सिद्ध होता है।

श्रौत दर्शनकारों का यही सिद्धान्त है कि यदि निःश्वसित शब्द से अवश्य प्रतीयमान अबुद्धि-पुरःसर अर्थ के मानने पर भी श्रुति का अर्थ सामञ्जस्येन उपपन्न हो जाता है, तो उसका त्याग करना समुचित नहीं है। इसलिए, श्रुति के अनुसार वेद का अपौरुषेय होना सिद्ध हो जाता है और यही युक्त भी प्रतीत होता है। इस अवस्था में अनुमान से श्रुति प्रबल है, श्रौतों का यह मत भी सिद्ध हो जाता है।

## सत्ता के भेद से श्रुति और प्रत्यक्ष में अविरोध

अब श्रुति और प्रत्यक्ष में बाध्य-बाधक-भाव के विषय में विचार किया जायगा। प्रमाण अपने विषय की सत्ता का ज्ञान कराता है, यह सर्वसिद्धान्त है। सत्ता, साधारणतः दो प्रकार की होती है—एक पारमार्थिकी, दूसरी व्यावहारिकी। 'तत्त्वमसि' महावाक्य अद्वैत की पारमार्थिक सत्ता का बोध कराता है, और द्वैतग्राही जो प्रत्यक्ष प्रमाण है, वह द्वैत की व्यावहारिक सत्ता का बोध कराता है। इस अवस्था में श्रुति और प्रत्यक्ष का विषय भिन्न होने से विरोध नहीं होता, इसलिए बाध्य-बाधक-भाव भी नहीं हो सकता। यदि द्वैतग्राही प्रत्यक्ष से भी पारमार्थिक सत्ता का ही बोध होता, तो दोनों में विरोध होने से बाध्य-बाधक-भाव का विचार होता, 'विषयैक्ये बाध्य-बाधक-भावो भवति न तु विषयभेदे', अर्थात् विषय के एक होने पर ही बाध्य-बाधक-भाव होता है—विषय-भेद में नहीं, यह सबका सिद्धान्त है। इस अवस्था में अद्वैत-प्रतिपादक श्रुति से द्वैतग्राही प्रत्यक्ष का बाध होता है। इस प्रकार कहने का तात्पर्य यही होता है कि प्रत्यक्षादि प्रमाण, द्वैत की पारमार्थिक सत्ता के बोधक नहीं, किन्तु व्यावहारिक सत्ता के ही बोधक हैं।

## प्रमेय-विचार

प्रमाण से जिसका साधन किया जाता है, या प्रमाण से जो सिद्ध है, उसको 'प्रमेय' कहते हैं। प्रमेय दो प्रकार का होता है—एक चेतन, दूसरा अचेतन। इनमें

चेतन प्रधान है, और अचेतन अप्रधान। क्योंकि, भूत या भौतिक जितनी अचेतन वस्तुएँ हैं, वे चेतन के ही उपभोग के साधन हैं। चेतन भी दो प्रकार का होता है—एक जीव, और दूसरा ईश्वर। जीव की अपेक्षा ईश्वर प्रधान है; क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है तथा ईश्वर के ज्ञान के लिए जीव का प्रयत्न देखा जाता है। इसलिए, पहले ईश्वर का ही विचार किया जाता है।

## ईश्वर के विषय में चार्वाक-मत

चार्वाक-मतानुयायी ईश्वर को नहीं मानते। इनके मत में ईश्वर कोई तत्त्व नहीं है। क्योंकि, इनके मत में प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं माना जाता, और प्रत्यक्ष से ईश्वर का ज्ञान होता नहीं। बीज से अंकुर की उत्पत्ति जो होती है, वह मृत्तिका और जल के संयोग से स्वाभाविक है। उसके लिए किसी अदृष्ट कर्त्ता की कल्पना व्यर्थ है। यदि कोई कर्त्ता रहता, तो कदाचित् किसी को कहीं पर अवश्य उपलब्ध होता। उपलब्ध नहीं होता, इसलिए ईश्वर कोई वस्तु नहीं है, यह इनका परम सिद्धान्त है। यदि कहें कि ईश्वर नहीं है, तो शुभ या अशुभ कर्म का फल कौन देगा? तो इसके उत्तर में इनका कहना है कि किस कर्म-फल के बारे में आप पूछते हैं—लौकिक या पारलौकिक? यदि लौकिक कर्म के बारे में आप कहें, तो निग्रह और अनुग्रह में समर्थ राजा ही, चोरी आदि बुरे काम करनेवालों को दण्ड, और अच्छे काम करनेवालों को पारितोषिक देता है। यदि पारलौकिक कर्मों के विषय में कहें, तो इसमें इनका कहना है कि यज्ञ, तप आदि जितने वैदिक कर्म हैं, वे भोग के साधन नहीं हैं, केवल अपनी जीविका के लिए धूर्त्तों का प्रचार-मात्र है। जातमात्र शिशु को जो सुख-दुःख का उपभोग प्राप्त होता है, वह काकतालीय न्याय से यदृच्छया हुआ करता है। इसमें किसी अदृष्ट कारण की आवश्यकता नहीं होती, जिससे ईश्वर की कल्पना की जाय।

## ईश्वर के विषय में मतान्तर

चार्वाक के अतिरिक्त जैन और बौद्ध भी ईश्वर को नहीं मानते। बौद्धों के मत में सर्वज्ञ मुनि बुद्ध से भिन्न अन्य कोई ईश्वर नहीं है। जैन भी अर्हत् मुनि के अतिरिक्त किसी दूसरे को ईश्वर नहीं मानते। सांख्यों के मत में भी पुरुष (जीव) से भिन्न किसी ईश्वर को नहीं माना जाता। मीमांसकों के मत में भी शुभ और अशुभ कर्म के फल को देनेवाला कर्म ही है, इससे भिन्न कोई दूसरा ईश्वर नहीं। कतिपय मीमांसक ईश्वर को भी मानते हैं। वैयाकरणों के मत में परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, ये चार प्रकार के जो शब्द हैं, उनमें सकल शब्दों का मूल कारण मूलाधारस्थ परा नाम का जो शब्द है, वही ईश्वर है। रामानुजाचार्य के मत में जीव से भिन्न जीवों का नियन्ता जीवान्तर्यामी ईश्वर माना जाता है। जीव-वर्ग और जड़-वर्ग ईश्वर का शरीर माना जाता है। वही ईश्वर जीव से किये गये शुभ या अशुभ कर्म का फल कर्म के अनुसार देता है। वह ईश्वर ज्ञानस्वरूप है। अनुकूल ज्ञान का ही नाम

आनन्द है। इसीलिए, श्रुति में ईश्वर को आनन्द-स्वरूप भी माना गया है। ज्ञान आदि जो गुण हैं, उनका आश्रय भी ईश्वर ही है। इनके मत में स्वरूपभूत ज्ञान से गुणभूत ज्ञान भिन्न माना जाता है। यही ईश्वर, जगत्-रूप कार्य की उत्पत्ति में, तीन प्रकार से कारण बनता है। 'बहुस्याम्'—बहुत हो जाऊँ, इस प्रकार संकल्पविशिष्ट ईश्वर निमित्त-कारण होता है। अपना विशेषणभूत शरीर-रूप, जो सूक्ष्म चित् और अचित् अंश है, तद्विशिष्ट होने से उपादान कारण होता है। और, ज्ञान, शक्ति, क्रिया आदि से विशिष्ट होने के कारण सहकारी कारण भी कहा जाता है। जीव का भी नियन्ता ईश्वर ही है। जिस प्रकार शरीर के अन्तःस्थित सूक्ष्म जीव शरीर का नियमन करता है; उसी प्रकार जीवों के अन्तःस्थित सूक्ष्मतर ईश्वर भी जीवों का नियमन करता है। केवल इतना ही अन्तर है कि जीव अपने इच्छानुसार सर्वावयवेन शरीर का नियमन नहीं कर सकता, और ईश्वर सर्वावयवेन अपनी इच्छा से जीवों का नियमन करता है; क्योंकि जीव अल्पशक्ति और ईश्वर परिपूर्ण शक्ति-विशिष्ट है। एक बात और ज्ञातव्य है कि ईश्वर यद्यपि अपनी इच्छा से जीवों के नियमन करने में समर्थ है, तथापि जीवकृत उन कर्मों के अनुसार ही उनका नियमन करता है। अन्यथा वैषम्य आदि दोष ईश्वर में आ जायगा।

## ईश्वर के विषय में नैयायिक आदि का मत

नैयायिक, वैशेषिक, माध्व, माहेश्वर आदि दर्शनकारों के मत में ईश्वर को उपादान कारण नहीं माना जाता। ये लोग जगत् की उत्पत्ति में ईश्वर को निमित्त कारण ही मानते हैं। कर्म के फल को देनेवाला यही ईश्वर है। किन्तु, माहेश्वरों में नकुलीश, पाशुपत और प्रत्यभिज्ञावादी ईश्वर को कर्मानुसार फल देनेवाला नहीं मानते। इनका कहना है कि ईश्वर को कर्मावलम्बी मानने से उसकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जायगी। और, इनके अतिरिक्त माहेश्वर, नैयायिक, वैशेषिक और माध्व ऐसा मानते हैं कि कर्म के अनुसार ही ईश्वर जगत् का निर्माण करता है। पातञ्जलों के मत में भी ईश्वर को जीव से भिन्न माना जाता है, किन्तु वह जगत् का न उपादान कारण होता है, और न निमित्त कारण ही। वह निर्गुण, निर्लेप और निर्विशेष है।

## ईश्वर के विषय में अद्वैतवादियों का मत

अद्वैतवादी शङ्कराचार्य के मत में ईश्वर परमात्मा, निर्गुण, निर्लेप, निर्विशेष और पारमार्थिक है। वह जगत् का न निमित्त कारण है, और न उपादान ही। क्योंकि, इनके मत में जगत् की पारमार्थिक सत्ता ही नहीं है, तो उसके कारण की कल्पना ही व्यर्थ है। जगत् की सत्ता तो केवल व्यावहारिक है। इस व्यावहारिक जगत् का कारण, मायोपाधिक परमात्मा है। निर्विशेष शुद्ध परमात्मा न किसी का कार्य है और न कारण ही। वही शुद्ध परमात्मा जब मायारूप उपाधि से युक्त होता है, तब ईश्वर कहलाता है। यही माया-विशिष्ट ईश्वर स्वप्राधान्येन जगत् का निमित्त कारण और मायाप्रधान्येन उपादान कारण होता है। माया-विशिष्ट का एकदेशभूत केवल मायाश्रय,

जगत् का विवर्त्तोपादान होता है। जीवकृत शुभ और अशुभ कर्मों का फल यही ईश्वर देता है, और वह भी कर्मों के अनुसार ही फल देता है।

## ईश्वर-सत्ता में प्रमाण

अब पूर्वोक्त ईश्वर का ज्ञान किस प्रकार होगा, इसका विचार किया जाता है। जो दर्शनकार ईश्वर को मानते ही नहीं, उनके मत में प्रमाण का विचार निरर्थक ही है। क्योंकि, वन्ध्यापुत्र के अन्वेषण में किसी की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। और, जो दर्शनकार ईश्वर को मानते हैं, उन लोगों का भी ईश्वर के ज्ञान में परस्पर मतभेद देखा जाता है। मनुष्यों को जो ईश्वर-विषयक ज्ञान होता है, वह अवस्था-भेद से दो प्रकार का है— एक, मोक्षावस्था में होनेवाला; दूसरा, मोक्षावस्था से पूर्व होनेवाला। इन दोनों में पहला अद्वैतवादी शंकराचार्य के मत में नहीं हो सकता; क्योंकि उनके मत में उपाधि-रहित स्वरूप में अवस्थान का ही नाम मोक्ष है, इसलिए वहाँ औपाधिक द्वैत का प्रतिभास होना असम्भव है। द्वैतवादी-वैशेषिकों के मत में भी मोक्षावस्था में जीव के सकल-विशेष गुण का उच्छेद हो जाता है, इसलिए वहाँ किसी विषय का भी ज्ञान नहीं होता। नैयायिकों के मत में भी प्रायः यही बात है। सांख्यों के मत में भी जीवात्मा असङ्ग और निर्लेप है। मोक्षावस्था में असङ्ग-रूप से ही अवस्थित रहने के कारण ज्ञातृ-ज्ञेय-भाव नहीं रहता, अतः किसी विषय का भी ज्ञान नहीं हो सकता। पातञ्जलों के मत में भी यही बात है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में भी जीव ही ईश्वर-रूप से आविर्भूत होता है। अतएव, स्वरूप से भिन्न कोई ईश्वर नहीं रहता, जिसका ज्ञान सम्भव हो।

इनसे भिन्न जो द्वैतवादी तार्किक हैं, उनके मत में मोक्षावस्था में ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। मोक्षावस्था से पहले मोक्ष का साधनीभूत जो आत्मज्ञान होता है, वह तत्त्वान्वेषण-रूप ही है। तार्किकों के मत में तत्त्व का अन्वेषण पहले अनुमान के ही द्वारा होता है, उसी के अनुसार पीछे श्रुति प्रवृत्त होती है। ईश्वर-विषयक ज्ञान में भी इनका यही क्रम है। अर्थात्, पहले अनुमान से ईश्वर सिद्ध करना, उसके बाद श्रुति को तदनुसार संगमन करना। इन द्वैतवादियों के मत से रामानुजाचार्य का मत विपरीत है। इनका कहना है कि ईश्वर के विषय में पहले श्रुति प्रवृत्त होती है, और उसके बाद अनुमान। माध्व लोग अनुमान को प्रमाण ही नहीं मानते। इसलिए, इनके मत में श्रुति से ईश्वर का ज्ञान होना स्वाभाविक ही है।

## आत्म-प्रत्यक्ष में श्रुति का प्राधान्य

अद्वैतवादी शङ्कराचार्य के मत में अद्वैत आत्मा के साक्षात्कार-साधन के लिए पहले श्रुति ही प्रवृत्त होती है, उसके बाद श्रुति के अनुसार ही अनुमान प्रवृत्त होता है। इसके पहले अनुमान की गति नहीं होती।

यहाँ आशंका यह होती है कि जितना शीघ्र अनुमान से किसी वस्तु का अनुभव होता है, उतना शब्द से नहीं। रस्सी में होनेवाला जो साँप का भ्रम-ज्ञान है, उसकी निवृत्ति 'नायं सर्पः' (यह साँप नहीं है)—इस शब्द के सुनने से उतना शीघ्र

नहीं होती, जितना शीघ्र 'यतो नायं चलति अतो नायं सर्पः' (यह चलता नहीं है, इसलिए यह साँप नहीं है)—इस प्रकार के अनुमान से भ्रम की निवृत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि सर्पाभाव के साक्षात्कार में जितना अन्तरङ्ग साधन अनुमान होता है, उतना शब्द नहीं। कारण यह है कि शब्द ऐतिह्य-मात्र से अर्थ का अनुभव कराता है, और अनुमान, प्रत्यक्ष दृष्टान्त के द्वारा उसे झटिति बुद्धि पर आरूढ करा देता है।

शङ्कराचार्य ने स्वयं अपने भाष्य में लिखा है—'अथ दृष्टसाम्येन अदृष्टमर्थं समर्थयन्ती युक्तिः सन्निकृष्यतेऽनुभवस्य विप्रकृष्यते तु श्रुतिः ऐतिह्यमात्राऽभिधानात्' (ब्र० सू० भा० २।१।४)। अर्थात्, प्रत्यक्ष दृष्टान्त के द्वारा दृष्ट वस्तु के सदृश ही अदृष्ट अर्थ का समर्थन कराती हुई युक्ति (अनुमान) अनुभव के अत्यन्त समीप है, और श्रुति विप्रकृष्ट, अर्थात् साक्षात् अनुभव कराने में बहिरङ्ग साधन है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि साक्षात् अनुभव कराने में श्रुति की अपेक्षा अनुमान की शक्ति प्रबल है। इस अवस्था में आत्म-साक्षात्कार के विषय में बहिरङ्ग श्रुति की गति पहले हो, और अन्तरङ्ग अनुमान की गति पहले न हो, इसमें क्या कारण है? यदि अनुभव कराने में अनुमान में शब्द की अपेक्षा प्रबल शक्ति है, और वह झटिति अनुभव करा सकता है, तो आत्म-साक्षात्कार में भी अनुमान की गति पहले होनी चाहिए।

इस आक्षेप का समाधान इस प्रकार होता है कि द्वैतवादियों के मत में किसी प्रकार परमात्मा के अनुसन्धान में श्रुति की अपेक्षा अनुमान-प्रमाण की गति पहले हो सकती है, परन्तु अद्वैतवादियों के मत में किसी प्रकार भी पहले अनुमान का प्रवेश होना असम्भव ही है। क्योंकि, जहाँ ज्ञाता की अपेक्षा ज्ञेय भिन्न प्रतीत होता है, वहाँ शब्द की अपेक्षा अनुमान की प्रबलता हो सकती है, परन्तु जहाँ ज्ञेय के साथ अपना ऐक्य हो; जैसे, 'दशमस्त्वमसि'—दसवाँ तुम हो, इत्यादि स्थल में वहाँ अनुमान की अपेक्षा श्रुति ही, अर्थात् शब्द ही, अनुभव के समीप अन्तरङ्ग साधन होता है। इसीलिए पञ्चदशी में कहा है—'दशमस्त्वमसीत्यादौ शब्दादेवापरोक्षधीः', दसवाँ तुम हो, इत्यादि स्थलों में शब्द से ही साक्षात् अनुभव होता है। यहाँ अपरोक्ष अर्थात् साक्षात् अनुभव में, शब्द के अतिरिक्त साधन का, 'शब्दादेव' के 'एव' शब्द से स्पष्ट निराकरण किया है। वेदान्त का एक दृष्टान्त है—

किसी समय दस मनुष्य स्नान करने के लिए नदी में गये थे। लौटने के समय आपस में गिनने लगे और सभी लोग अपने को छोड़कर नौ को ही गिनते थे, दसवाँ किसी की भी समझ में नहीं आया, वह नदी में डूब गया, यह समझकर सब रोने लगे। इसी बीच एक बुद्धिमान् मनुष्य वहाँ आया, और बात को समझकर समझाने लगा कि यदि वह डूबा होता, तो किसी ने अवश्य देखा होता। जब बहुत समझाने पर भी वे लोग न समझ सके, तब उसने कहा कि अच्छा, तो हमारे सामने गिनो। इतना कहने पर जब उसने फिर उसी प्रकार अपने को छोड़कर नौ को गिना, तो उस बुद्धिमान् मनुष्य ने कहा—'दशमस्त्वमसि', दसवाँ तुम हो। इस शब्द के श्रवणमात्र से दसवाँ का साक्षात्कार कर वे सभी प्रसन्न हो गये। इस प्रकार, अभेद-साक्षात्कार के लिए अनुमान की अपेक्षा शब्द ही शीघ्र अनुभावक होता है, यह सिद्ध होता है।

एक बात और भी है कि निर्विशेष आत्मैक्य का ज्ञान कराने में अनुमान किसी प्रकार भी समर्थ नहीं हो सकता। कारण यह है कि कोई भी प्रमाण सविशेष वस्तु का ही ज्ञान करा सकता है, निर्विशेष का नहीं। अर्थात्, प्रमाण यही बता सकता है कि यह वस्तु ऐसी है, परन्तु आत्मा ऐसा है, इस प्रकार का निश्चय नहीं कर सकते; क्योंकि वह निर्विशेष है। इसलिए, उस निर्विशेष आत्मा के बोध कराने में अनुमान किसी प्रकार भी समर्थ नहीं हो सकता। इसी बात को 'केन' श्रुति भी पुष्ट करती है—'यन्मनसा न मनुते'—जिसका मन से मनन नहीं कर सकते, यहाँ 'मनन' से अनुमान का ही बोध होता है।

यद्यपि निर्विशेष ब्रह्मात्मैक्य के बोध कराने में श्रुति का भी सामर्थ्य नहीं है, इस बात का अनुमोदन, अपना असामर्थ्य बताती हुई श्रुति स्वयम् कहती है—'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' ( तै० २।४।१ ), अर्थात् मन के साथ वाक् ( श्रुति या शब्द ) भी विना समझे लौट आती है। फिर भी, इसी रूप से 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते', 'यन्मनसा न मनुते', 'नेति-नेति', 'निर्गुणः', 'अग्राह्यम्', 'अलक्षणम्' इत्यादि श्रुतियाँ भी निषेध-मुख से ही ब्रह्मात्मैक्य के बोध कराने में किसी प्रकार समर्थ होती हैं। अथवा लक्षणा-वृत्ति से बोध कराती हैं। लक्षणा और अनुमान में इतना ही अन्तर है कि जहाँ तात्पर्य की अनुपपत्ति होती है, वहाँ ही लक्षणा की प्रवृत्ति होती है। अर्थात्, जिस निर्विशेष या सविशेष ब्रह्म में श्रुति का तात्पर्य उपक्रम, परामर्श, उपसंहार, अभ्यास आदि साधनों से अवगत होता है, वही लक्षणा से दिखाया जाता है। और, अनुमान साधन के सम्बन्ध से साध्य का ज्ञान कराता है। निर्विशेष ब्रह्म का किसी के साथ सम्बन्ध है नहीं, इस अवस्था में अनुमान का अवकाश होता ही नहीं। यदि कहें कि इस प्रकार तो श्रुति के बाद भी अनुमान की गति नहीं हो सकती, तो इसे इष्टापत्ति ही मानना होगा। पूर्व में श्रुति के पार्षद होने से उसके पीछे अनुमान की जो गति बताई गई है, वह ब्रह्मविशेष और सोपाधिक ईश्वर के विषय में ही है, निरुपाधिक ब्रह्म के विषय में नहीं।

## ईश्वर के विषय में भी अनुमान से पूर्व श्रुति की प्रवृत्ति

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि जगत् के कारणीभूत सोपाधिक ईश्वर के विषय में श्रुति से पहले अनुमान की गति क्यों नहीं होती? इसका उत्तर यह है कि जगत् का कुछ कारण अवश्य है, इस प्रकार के निश्चय होने के बाद ही, उसी कार्य-कारण-भाव मूलक कार्य के द्वारा कारण का बोध करानेवाला अनुमान-प्रमाण का संचार होता है। जन्य, क्षित्यंकुरादि को देखकर सन्देह उत्पन्न होता कि क्या यह क्षित्यंकुरादि कार्य, स्वयं स्वभाव से ही उत्पन्न हुआ है, अथवा इसका बनानेवाला कोई है? इस प्रकार के सन्देह की निवृत्ति 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुति के विना नहीं हो सकती। क्योंकि, चेतन की सहायता के विना अचेतन का परिणाम लोक में कहीं भी नहीं देखा जाता, फिर भी इस नियम के विरुद्ध कपिल आदि दर्शनकारों ने अचेतन-प्रधान का स्वयं स्वतन्त्र परिणाम मानते हुए, इस विषय को स्वतन्त्र प्रधान कारण-वाद की कोटि में रखा है। इसी प्रकार उपादान कारण के विना लोक में कोई कार्य

उत्पन्न नहीं होता, फिर भी स्वभाववादी इस बात को स्वीकार करते हैं कि उपादान कारण के विना भी स्वभाव से ही कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। इस अवस्था में क्षिति-अंकुर आदि कार्य को निमित्त और उपादान के विना भी स्वभाव से ही उत्पन्न होनेवाला मान लें, तो इसमें उनका क्या अपराध है ? इसलिए, श्रुति को आधार माने विना किसी भी तर्क के आधार पर जगत् के निश्चित कारण को सिद्ध करना कठिन ही नहीं, अपितु, असम्भव है। जब श्रुति के द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि सकल भूत और भौतिक वर्ग किसी से क्रियमाण या कृत है, तभी उस कार्य-कारणभाव-मूलक अनुमान की प्रवृत्ति होती है। इन उपर्युक्त बातों को साक्षात् श्रुति भी पुष्ट करती है; यथा—'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३।१२।६।७)। अर्थात्, जो वेद को नहीं जानता, वह उस ब्रह्म का मनन नहीं कर सकता। यहाँ मनन का अर्थ अनुमान ही होता। 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च'—इस बृहदारण्यक श्रुति में श्रवण के बाद जो मनन का विधान किया है, इसका भी यही तात्पर्य है कि श्रुति-वाक्य के श्रवण के अनन्तर अनुमान-साध्य मनन हो सकता है। श्रवण श्रुति-वाक्य से ही होता है, और मनन से अनुमान का ग्रहण होता है। 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः'—इस स्मृति का भी यही तात्पर्य हो सकता है। इन्हीं सब बातों से सिद्ध होता है कि अनुमान का उपजीव्य श्रुति ही है।

जो ईश्वर को नहीं मानते हैं, उनके मत में भी तत्त्व-ज्ञान की आवश्यकता मोक्ष के लिए होती ही है। उन तत्त्वों में जीव के साथ अपने मूलतत्त्व का भी ज्ञान इतर से विविक्ततया करना अत्यावश्यक हो जाता है। क्योंकि, उनके मत में भी विना विवेक-ज्ञान के मोक्ष नहीं होता। विवेक-ज्ञान के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है। क्योंकि, किसी भी ज्ञान का साधन प्रमाण ही होता है। ईश्वर को नहीं माननेवाले जितने दार्शनिक हैं, वे प्रायः सब तार्किक हैं। उनके मत में जीव के स्वरूप-ज्ञान के लिए पहले अनुमान प्रवृत्त होता है, उसके बाद उसके पार्षद होने से श्रुति की प्रवृत्ति होती है।

## जीव का स्वरूप

ईश्वर के स्वरूप-निरूपण के बाद क्रमप्राप्त जीव का स्वरूप कैसा है, वह नित्य है, या अनित्य, उसका परिमाण क्या है, इत्यादि विषयों का विचार किया जाता है। चार्वाकों के मत में चैतन्य-विशिष्ट देह को ही जीवात्मा माना गया है। वही कर्त्ता और भोक्ता है। उसका मूल स्वरूप, पृथिवी, जल, तेज और वायु—इन चार भूतों का परमाणु-पुञ्ज ही है। जब इन भूत-परमाणुओं का देह-रूप से परिणाम होता है, तभी उसमें (देह में) चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। उसी समय वह चैतन्य-विशिष्ट देह जीव कहलाने लगता है। इनके मत में जड़ और बोध उभय-स्वरूप जीव होता है। चैतन्य-विशिष्ट देह में जो चैतन्य अंश है, वही बोधरूप है, और देह-अंश जड़रूप है। देह अनेक प्रकार का होता है, इसलिए जीव भी अनेक हो जाता है और देह के साथ ही वह उत्पन्न या विनष्ट होता है, इसलिए अनित्य भी है। चार्वाकों में भी पीछे अनेक भेद हो गये हैं। कोई प्राण को ही जीवात्मा मानता है, कोई इन्द्रियों को और कोई मन को ही। इन सब मतों का खण्डन न्याय-दर्शन में भली भाँति किया गया है।

बौद्धों में जो शून्यवादी माध्यमिक हैं, उनके मत में व्यवहार-दशा में भासमान जो जीव है, उसका मूल-स्वरूप शून्य ही है। इनके अतिरिक्त बौद्धों के मत में विज्ञान-स्वरूप जीवात्मा है। क्षणिक विज्ञानों का जो प्रवाह है, तत्स्वरूप होने के कारण जीवात्मा प्रतिक्षण बदलता रहता है, इसीलिए अनित्य भी है। पूर्व-पूर्व-विज्ञानजन्य जो संस्कार है, उसका उत्तरोत्तर विज्ञान में संक्रमण होता रहता है, इसीलिए इनके मत में स्मरण की अनुपपत्ति नहीं होती और पूर्वानुभूत विषयों का स्मरण बना रहता है।

जैनों के मत में आत्मा को देह-परिमाण माना गया है और देह से भिन्न भी माना गया है। जैसे-जैसे देह बढ़ती है, उसमें रहनेवाला आत्मा भी उसी प्रकार बढ़ता रहता है, और देह के अपचय अर्थात् क्षीण होने पर आत्मा का भी अपचय होता रहता है। देह के साथ आत्मा का भी सदा उपचय और अपचय होते रहने के कारण इनके मत में भी आत्मा कूटस्थ नित्य नहीं माना जाता है। आत्मा कूटस्थ नित्य नहीं होने पर भी इनके मत में वह परिणामी नित्य माना जाता है। जो एक रूप से सदा वर्त्तमान रहता है, वही कूटस्थ नित्य कहा जाता है। जितने आस्तिक दर्शन हैं, उनके मत में आत्मा कूटस्थ नित्य माना जाता है।

## आत्मा के कूटस्थ नित्य होने में आक्षेप

आत्मा कूटस्थ नित्य क्यों है, कूटस्थ न मानने से क्या दोष होता है—इसका विचार किया जाता है। नैयायिकों और वैशेषिकों के ऊपर यह आक्षेप किया जाता है कि इनके मत में भी आत्मा कूटस्थ नित्य नहीं होता; क्योंकि आत्मा के जितने बुद्धि, सुख, दुःख आदि गुण हैं, वे सब अनित्य माने जाते हैं, यह इनका परम सिद्धान्त है। इसलिए, बुद्धि आदि गुणों के अनित्य होने से जब-जब इनका उत्पाद या विनाश होगा, उसी समय उन गुणों के आश्रयभूत आत्मा में भी उपचय या अपचय होना अवश्यम्भावी है। कारण यह है कि जबतक धर्मी में विकार नहीं होता, तबतक उसके धर्म में भी विकार नहीं हो सकता। 'उपयन्नपयन् धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्'—इस सर्वसिद्धान्तन्याय का भी यही तात्पर्य है कि बढ़ता या घटता हुआ धर्म, धर्मी में विकार अवश्य करता है। शङ्कराचार्य ने भी शारीरक भाष्य में 'उभयथा च दोषात्' इस सूत्र के ऊपर लिखा है : 'न चान्तरेण मूर्त्युपचयं गुणोपचयो भवति, कार्येषु भूतेषु गुणोपचये मूर्त्युपचयदर्शनात्'—तात्पर्य यह है कि मूर्त्ति में उपचय हुए विना गुण में उपचय नहीं होता। कार्यभूत पृथिवी आदि भूतों में गुणों के उपचय-अपचय से मूर्त्ति में भी उपचय-अपचय देखा जाता है। जैसे—पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँच गुणों के रहने से पृथिवी सब भूतों की अपेक्षा स्थूल है। केवल एक गन्ध-गुण के कम हो जाने से जल पृथिवी की अपेक्षा सूक्ष्म हो जाता है। जल की अपेक्षा तेज सूक्ष्म है, उसमें गन्ध और रस ये दो गुण कम हो जाते हैं। तेज की अपेक्षा वायु सूक्ष्म है, उसमें गन्ध, रस और रूप ये तीन गुण कम हो जाते हैं। इसकी अपेक्षा भी आकाश अत्यन्त सूक्ष्म है, इसमें गन्ध, रस, स्पर्श, रूप ये चार गुण कम हो जाते हैं। आकाश में एक शब्दमात्र ही गुण रहता है। इन भूतों में

देखा जाता है कि ये अत्यन्त सूक्ष्म आकाश से जितने स्थूल होते जाते हैं, उनमें एक-एक गुण अधिक बढ़ता जाता है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मूर्त्ति के उपचय और अपचय गुणों के उपचय और अपचय के अधीन हैं।

वस्तुतः, बुद्धि आदि गुणों की उत्पत्ति और विनाश के समय जीवात्मा में भी विकार होना अवश्यम्भावी है। इसीलिए किसी प्रकार भी जीवात्मा इनके मत में कूटस्थ नहीं हो सकता।

## आत्मा का कूटस्थत्व-समर्थन

इसका समाधान इस प्रकार होता है कि जब बुद्धि आदि गुणों को आत्म-स्वरूप के अन्तर्गत मानें, तभी यह आक्षेप हो सकता है, अन्यथा नहीं। नैयायिक और वैशेषिक लोग बुद्धि आदि गुणों को आत्मस्वरूप से इतर मानते हैं, अर्थात् जीवात्मा में वर्त्तमान भी बुद्धि आदि जो गुण हैं, वे जीवात्मस्वरूप से भिन्न हैं, ऐसी इनकी मान्यता है। जिस प्रकार भूतल में विद्यमान घट आदि पदार्थ भूतल-स्वरूप से भिन्न हैं, उसी प्रकार आत्मा में विद्यमान भी बुद्धि आदि गुण आत्मा से भिन्न ही हैं। इसका रहस्य यह है कि नैयायिक और वैशेषिक के मत में गुण और गुणी में भेद माना जाता है, इसीलिए द्रव्य आदि पदार्थों में द्रव्यादि से भिन्न गुणों की गणना की गई है।

इस स्थिति में, बुद्धि आदि गुणों की उत्पत्ति और विनाश होने पर भी बुद्धि आदि का आश्रय जो आत्मा है, उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं आता। इसीलिए, आत्मा के कूटस्थ होने में कोई आपत्ति नहीं होती। और, इसीलिए, इनके मत में आत्मत्व-सामान्य केवल आत्मा में ही रहता है, बुद्धि आदि गुण-विशिष्ट में नहीं रहता। जिस प्रकार, आत्मा के शरीर-विशिष्ट होने पर भी आत्मत्व-सामान्य, केवल आत्मा में ही रहता है, शरीर-विशिष्ट आत्मा में नहीं; क्योंकि आत्मा शरीर से भिन्न है—उसी प्रकार, आत्मा के ज्ञानादि गुणों से युक्त होने पर भी ज्ञानादि गुणों से भिन्न केवल आत्मा में ही आत्मत्व-सामान्य रहता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि ज्ञान आदि गुण आत्मा के ही हैं, तथापि शरीर के सदृश आत्मस्वरूप में उनका अन्तर्भाव नहीं होता, किन्तु आत्मस्वरूप से भिन्न ही रहता है।

यहाँ एक बात और जानने योग्य है कि यदि ज्ञान-गुण का आत्मस्वरूप में अन्तर्भाव नहीं मानते, तो ज्ञान-स्वरूप न होने के कारण नैयायिक और वैशेषिक इन दोनों के मत में आत्मा जड़ सिद्ध हो जाता है। क्योंकि, ज्ञान से भिन्न सकल वस्तु अचेतन ही होती है। इसलिए, ज्ञान से भिन्न होने के कारण इनके मत में आत्मा भी पाषाण के सदृश जड़ ही सिद्ध होता है। जीवित दशा में ज्ञान के आश्रय होने से किसी प्रकार चेतन मान भी लें, फिर भी मुक्तावस्था में ज्ञान-गुण के बिलकुल नष्ट होने से पाषाण की तरह अचेतन ही आत्मा इनके मत में सिद्ध होता है।

## जीव के विषय में अन्य मत

मीमांसकों में प्रभाकर-मतानुयायी इसी प्रकार मानते हैं। जैन लोग आत्मा को ज्ञान से भिन्न और अभिन्न दोनों मानते हैं। मीमांसकों में कुमारिलभट्टानुयायी

आत्मा को अंश-भेद से चेतन और जड़ दोनों मानते हैं। इनके मत में आत्मा बोधाबोधस्वरूप माना जाता है। पञ्चदशी का चित्रदीप-प्रकरण देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है। सांख्य, पातञ्जल, शैव तथा वेदान्त-दर्शनों में आत्मा को ज्ञान-स्वरूप ही माना गया है। यहाँ सांख्य के मत में ज्ञान-स्वरूप जो आत्मा है, उसके स्वरूप के अन्तर्गत या अनन्तर्गत कोई भी गुण नहीं है, वह निर्गुण, निर्लेप और असङ्ग है। पातञ्जल और अद्वैत वेदान्तियों का यही मत है। विशिष्टाद्वैतवादी रामानुजाचार्य और द्वैतवादी माध्वाचार्य, नैयायिक तथा वैशेषिक लोग आत्मा को सगुण मानते हैं।

## जीव-परिमाण

अब जीवात्मा के परिमाण के विषय में विचार किया जायगा। बौद्धों के मत में विज्ञान-सन्तति को ही आत्मा माना जाता है। और, विज्ञान गुणभूत है, इसलिए स्वतन्त्र रूप से उसका कुछ भी परिमाण नहीं हो सकता। उस विज्ञान-सन्तति रूप आत्मा का कोई आश्रय भी नहीं है, इसलिए आश्रय के अनुरोध से भी परिमाण नहीं कह सकते। रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य और वल्लभमतानुयायी जीवात्मा को अणु-परिमाण मानते हैं। चार्वाक, जैन और बौद्धों के अन्तर्गत माध्यमिक लोग जीव को मध्यम-परिमाण मानते हैं। नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, पातञ्जल और अद्वैतवादी वेदान्ती जीव को व्यापक मानते हैं।

## जीव का कर्त्तृत्व

नैयायिक और वैशेषिक के मत में जीव को कर्त्ता माना जाता है, और जीव का जो कर्त्तृत्व है, उसको सत्य ही माना जाता है। रामानुजाचार्य और माध्वाचार्य का कहना है कि यद्यपि जीवात्मा कर्त्ता और इसका कर्त्तृत्व सत्य ही है, तथापि वह कर्त्तृत्व स्वाभाविक नहीं है, किन्तु नैमित्तिक है। अद्वैत वेदान्तियों का मत है कि जीव का कर्त्तृत्व औपाधिक है। सांख्य और पातञ्जल के मत में जीव का कर्त्तृत्व प्रातिभासिक माना जाता है। वास्तविक कर्त्तृत्व इनके मत में प्रकृति का ही है। उसी के सम्बन्ध से जीवात्मा में कर्तृत्व भासित होता है, इसीलिए प्रातिभासिक कहा जाता है। जिसके मत में जैसा कर्त्तृत्व है, उसके मत में वैसा ही भोक्तृत्व भी माना जाता है।

## अचिद्वर्ग-विचार

अब चेतन और भोक्ता आत्मा के भोग्यभूत जड़-वर्ग का विचार संक्षेप में किया जाता है। लोक में दृश्यमान जितने भूत और भौतिक पदार्थ हैं, उनके अस्तित्व के विषय में किसी का भी विवाद नहीं है। जाल के अन्तर्गत जो सूर्य की मरीचिका है, उसमें दृश्यमान जो धूलि के सूक्ष्म कण हैं, वे ही सबसे सूक्ष्म होने के कारण दृश्यमान सकल भूत भौतिक जड़-वर्ग के कारण होते हैं। यह चार्वाकों का मत है। इनके मत में जालस्थ सूर्य की मरीचिका में दृश्यमान जो रज के कण हैं, वे ही सबसे सूक्ष्म

होने के कारण परमाणु कहे जाते हैं। ये परमाणु पृथ्वी, जल, तेज और वायु के भेद से चार प्रकार के होते हैं। आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए इनके मत में यह कोई तत्त्व नहीं है। और, प्रत्यक्ष से भिन्न इनके मत में कोई प्रमाण भी नहीं माना जाता, जिससे आकाश-तत्त्व की सिद्धि हो।

बौद्धों के मत में जालस्थ सूर्य की किरणों में जो रज के कण देखे जाते हैं, उनको भी अनुमान-प्रमाण से सावयव माना जाता है। और, जो उनके अवयव सिद्ध होते हैं, वे ही परमाणु हैं। वहीं से सकल प्रपञ्चरूप कार्य का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से निरन्तर चलता रहता है। चार्वाकों के सदृश बौद्ध भी आकाश को नहीं मानते। जैनों के मत में एक ही प्रकार का परमाणु जगत् का मूल कारण माना जाता है। इनके मत में आकाश को तत्त्वान्तर माना जाता है। नैयायिकों और वैशेषिकों का कहना है कि पूर्वोक्त रज के कणों के अवयव, जिनको बौद्धों ने अनुमान से सिद्ध किया है, वे भी परमाणु शब्द के वाच्य नहीं हैं। किन्तु, उनसे भिन्न उन पूर्वोक्त अवयवों के जो अवयव अनुमान द्वारा सिद्ध होते हैं, वे ही वस्तुतः परमाणु कहे जाते हैं। वे ही परमाणु चार प्रकार के भूतों के मूल कारण हैं। दो परमाणुओं के संयोग से जो कार्य उत्पन्न होता है, वही 'द्व्यणुक' कहा जाता है। यही पूर्वोक्त रजकण के अवयव हैं। इसी को बौद्ध लोग 'परमाणु' मानते हैं।

तीन 'द्व्यणुक' के संयोग से उत्पन्न जो कार्य है, वही 'त्र्यणुक' कहा जाता है। यही 'त्र्यणुक' जाल-सूर्य की मरीचिका में दृश्यमान रज का कारण है। इसी को चार्वाक लोग परमाणु मानते हैं। इनके मत में भी आकाश को तत्त्वान्तर माना जाता है। पृथिवी आदि चार भूतों के चार परमाणु और आकाश, इन पाँचों को ये लोग नित्य मानते हैं। इनकी उत्पत्ति किसी दूसरे से नहीं होती, इसलिए इनका दूसरा कोई मूल कारण नहीं है। मीमांसक और वैयाकरण परमाणु को भी अनित्य मानते हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पाँच भूतों म पूर्व-पूर्व का उत्तरोत्तर कारण होता है। अर्थात्, पृथिवी का जल, जल का तेज, तेज का वायु और वायु का आकाश कारण होता है। आकाश भी इनके मत में अनित्य होता है। आकाश की उत्पत्ति शब्द से मानी जाती है। इनके मत में सकल प्रपञ्च का मूल कारण शब्द ही है।

सांख्य और पातञ्जल के मत में शब्द भी मूल कारण नहीं होता, किन्तु इसकी उत्पत्ति अहङ्कार से मानी जाती है। अहङ्कार का कारण महत्तत्त्व और महत्तत्त्व का कारण त्रिगुणात्मक प्रधान माना जाता है। इसी का नाम मूल प्रकृति है। यही सकल प्रपञ्च का मूल कारण है। यह कार्य नहीं है, इसलिए इसका दूसरा कोई कारण भी नहीं है। इसीलिए, सांख्याचार्य ने कहा है—'मूले मूलाभावादमूलं मूलम्', अर्थात् मूल में कोई दूसरा मूल नहीं रहने से मूल अमूल ही रहता है।

अद्वैत वेदान्तियों के मत में प्रधान को भी मूल कारण नहीं माना जाता। इनके मत में प्रधान भी कार्य है; क्योंकि, 'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्', 'तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्' (तै० उ० ३।८।६) इत्यादि श्रुति में सत् को तम से व्याप्त बताया गया है। इसलिए, 'तम' शब्द का वाच्य किसी तत्त्व को मूल कारण मानना

समुचित प्रतीत होता है। वह तम शब्द का वाच्य सर्वथा असत् नहीं हो सकता; क्योंकि 'कथमसतः सज्जायेत सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' ( छा० ६।२।२ )। इस छान्दोग्य श्रुति से असत्कारणवाद के ऊपर आक्षेप कर सत्कारणवाद की ही स्थापना की गई है। यह 'सत्' शब्द का वाच्य मूल तत्त्व न जड़ है, और न आत्मतत्त्व से भिन्न ही। क्योंकि, उक्त श्रुति के समान अर्थवाली जो 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' ( ऐत० १।१ ) यह श्रुति है, उसमें आत्मा और एक शब्द का प्रयोग देखा जाता है और यही सृष्टि के आदि में 'आसीत्' क्रिया का कर्त्ता है। तात्पर्य यह है कि 'अग्रे' शब्द से सृष्टि के आदि में तमस् और सत् शब्द से जिस अर्थ का निर्देश किया गया है, उसी का वर्णन इस श्रुति में 'आत्म' और 'एक' शब्द से किया जाता है। इससे यह स्पष्ट सूचित होता है कि सृष्टि का मूल कारण आत्मशक्ति से भिन्न कोई भी प्रधान या परमाणु आदि जड़ पदार्थ नहीं है, जिसका तमस् शब्द और सत् शब्द से बोध हो। श्रुति में 'एक' और 'एव' शब्द से आत्मा से भिन्न दूसरे किसी कारण का भी अभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। इसलिए, मूलतत्त्व के अन्वेषण में जो श्रुति को ही प्रधान मानते हैं, उनके मत में जगत् का मूल कारण आत्मशक्ति ही है।

## आरम्भ आदि वाद-विचार

अब यह विचार उपस्थित होता है कि मूल कारण से उत्पन्न जो दृश्यमान सृष्टि है, वह मूल कारण से आरब्ध तत्त्वान्तर है, या मूल कारण का संघात? अथवा मूल-कारण का परिणाम-विशेष है या विवर्त्त? उक्त चार प्रकार की शङ्काओं के आधार पर ही प्रधान रूप से चार वाद प्रचलित हुए हैं। आरम्भवाद वैशेषिक और नैयायिकों का है। संघातवाद बौद्धों के मत में माना जाता है। सांख्य-मत में परिणामवाद और वेदान्तियों के मत में विवर्त्तवाद माना जाता है। इन्हीं प्रधान चार वादों का निर्देश संक्षेप-शारीरक में सर्वज्ञात्म महामुनि ने किया है—

**'आरम्भवादः कणभक्षपक्षसंः घातवादस्तु भदन्तपक्षः।**
**सांख्यादिपक्षः परिणामवादः वेदान्तपक्षस्तु विवर्त्तवादः॥'**

तात्पर्य यह है कि समवायी, असमवायी और निमित्त ये जो तीन प्रकार के कारण हैं, वे तीनों परस्पर मिलकर अपने से भिन्न कार्य का आरम्भ, अर्थात् उत्पादन करते हैं, इसी का नाम आरम्भवाद है। यह नैयायिकों और वैशेषिकों का अभिप्रेत है। यहाँ एक बात और भी जान लेनी चाहिए कि असमवायी और निमित्त कारण से भिन्न कार्य होता है, यह तो प्रायः सब दर्शनकारों का अभिमत है, परन्तु समवायी कारण, जिसको उपादान भी कहते हैं, से भिन्न कार्य होता है, यह नैयायिक और वैशेषिकों के अतिरिक्त कोई भी नहीं मानता। तन्तु-समुदाय से आरब्ध, अर्थात् उत्पन्न जो पट-रूप कार्य है, वह अपने कारणभूत तन्तु-समुदाय से भिन्न है, यही आरम्भवाद का निष्कर्ष है। समवायी कारण का ही नाम उपादान कारण है। तन्तु आदि जो पट के उपादान कारण हैं, उनका समुदाय ही पट-रूप कार्य है, उपादान

कारण से भिन्न पट-रूप कार्य नहीं है, यह संघादवात सौत्रान्तिक और वैभाषिक बौद्धों का अभिप्रेत है। इनके मत में यह संघात प्रतिक्षण नवीन रूप में उत्पन्न होता रहता है, इसलिए ये क्षणिकवादी कहे जाते हैं। इनके मत में कारण अपने विनाश के द्वारा ही कार्य का उत्पादक होता है—'अभावाद्भावोत्पत्तिः' इनका परम सिद्धान्त है।

बौद्धों में जो शून्यवादी माध्यमिक हैं, उनके मत में कार्य का कोई सत्रूप कारण नहीं है; किन्तु असत्, अर्थात् शून्य ही प्रतिक्षण कार्यरूप से भासित होता रहता है। इसी का नाम 'असत्ख्यातिवाद' है। और, इनमें जो विज्ञानवादी योगाचारमतानुयायी हैं, वे आत्मा को विज्ञान-स्वरूप मानते हैं। वही विज्ञान-स्वरूप आत्मा प्रतिक्षण नवीन बाह्य घटादि रूप से भासित होता रहता है। इसी का नाम 'आत्मख्यातिवाद' है।

तात्त्विक अन्यथाभाव का नाम परिणाम है। अर्थात्, जो अपने रूप को छोड़कर दूसरे रूप में बदल जाता है, वही परिणाम कहा जाता है। दूध अपना द्रवत्व रूप को छोड़कर दही के रूप को ग्रहण करता है, दही दूध का परिणाम है, ऐसा व्यवहार लोक में प्रचलित है। सांख्य, पातञ्जल और रामानुजाचार्य 'परिणामवाद' को ही मानते हैं। इनके मत में मूल प्रकृति या माया का ही परिणाम सकल प्रपञ्च है, ऐसा माना जाता है।

अतात्त्विक अन्यथाभाव का नाम विवर्त्त है। अर्थात्, जो अपने रूप को नहीं छोड़कर रूपान्तर से भासित होता है, उसी को विवर्त्त कहते हैं। जैसे रस्सी अपने रूप को नहीं छोड़कर सर्प के रूप में भासित होती है, और शुक्ति अपने रूप को नहीं छोड़कर रजत के रूप में भासित होती है। इसीलिए, रस्सी का विवर्त्त सर्प और शुक्ति का विवर्त्त रजत कहा जाता है। अद्वैत वेदान्तियों का विवर्त्तवाद इष्ट है। इनके मत में ब्रह्म का ही विवर्त्त अखिल प्रपञ्च माना जाता है। जिस प्रकार रस्सी सर्प-रूप से भासित होती है, और शुक्ति रजत-रूप से, उसी प्रकार ब्रह्म भी अखिल प्रपञ्च-रूप से भासित होता है। इसी को 'अध्यासवाद' भी कहते हैं। इसी को वेदान्तसार में इस प्रकार लिखा है—

'सतत्त्वतोऽन्यथाभावः परिणाम उदाहृतः।
अतत्त्वतोऽन्यथाभावः विवर्त्तः समुदीरितः॥'

एक दृष्टि सृष्टिवाद भी लोक में प्रचलित है, परन्तु यह विवर्त्तवाद से भिन्न नहीं माना जाता। किन्तु, इसके अन्तर्गत ही हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्य ने जिस समय जहाँ पर जिस प्रकार जिस वस्तु को देखा, उसी समय उसी प्रकार उसी जगह उसी की अविद्या से उसी वस्तु की सृष्टि हो जाती है। इसका दृष्टान्त शुक्ति में रजत का आभास ही है। जैसे, कुछ अन्धकार से आवृत किसी प्रदेश में प्रातःकाल में देवदत्त ने रजत देखा। उसी क्षण वह रजत, उसी प्रदेश में उसी देवदत्त की अविद्या से उसी प्रकार सृष्ट हो जाता है। क्योंकि, यज्ञदत्त को वह रजत उस समय उस जगह नहीं प्रतीत होता है, अथवा देवदत्त को ही देशान्तर या कालान्तर में प्रतीत नहीं होता है।

इसी प्रकार, यह प्रपञ्च भी जिस प्रकार जिस मनुष्य से जहाँ पर देखा जाता है, उसी की अविद्या से वहीं पर उसी प्रकार उसकी सृष्टि हो जाती है। इस पक्ष में यही विशेषता होगी कि जीव के एकत्व-पक्ष में प्रपञ्च भी एक ही रहेगा और जीव के अनेक मानने में प्रपञ्च भी अनेक मानना होगा। एक बात और जान लेनी चाहिए कि अद्वैत वेदान्तियों के मत में जीव को एक मानें, चाहे अनेक; परन्तु वह औपाधिक ही होगा, पारमार्थिक नहीं।

तान्त्रिक लोग यद्यपि अद्वैतवादी हैं, तथापि मूल कारण के विषय में वे प्रतिबिम्बवाद मानते हैं। इनका कहना है कि यदि आरम्भवाद माना जाय, तो कार्य-कारण में भेद होने से अद्वैत सिद्ध नहीं होगा, किन्तु द्वैत की आपत्ति हो जायगी। यदि परिणामवाद मानें, तो ब्रह्म को विकारी मानना होगा। क्योंकि, जितने पदार्थ परिणामी होते हैं, वे सब विकारी और अनित्य अवश्य होते हैं, किन्तु ब्रह्म को नित्य और कूटस्थ माना गया है। इस कारण से परिणामवाद नहीं माना जाता। और, संघातवाद में अभाव से भाव की उत्पत्ति स्वीकार करने से श्रुति और अनुमान से विरोध हो जाता है। यदि अद्वैतमत के अनुरोध से विवर्त्तवाद मानें, तो भी ठीक नहीं होता। कारण यह है कि जिस प्रकार रज्जु में सर्प की प्रतीति के समय रज्जु का भान नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म में जगत् की प्रतीति के समय में ब्रह्म की प्रतीति नहीं होनी चाहिए। क्योंकि, भ्रमस्थल में जिसका अध्यास होता है, उसी का स्फुरण (भान) होता है, अधिष्ठान का नहीं। 'अध्यस्तमेव परिस्फुरति भ्रमेषु'—यह सबका मान्य सिद्धान्त है। यदि कहें कि अध्यस्त, अर्थात् व्यवहार-दशा में ब्रह्म की प्रतीति न होना स्वाभाविक है, यह ठीक नहीं है; क्योंकि 'घटोऽस्ति', 'घटः सन्' इत्यादि स्थलों में सद्रूप से ब्रह्म का भान होना अद्वैत-वादियों का भी अभीष्ट है।

इस प्रकार, जब पूर्वोक्त वादों में यही बात होती है, तो प्रतिबिम्बवाद को ही स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। इसकी पद्धति यह है कि जिस प्रकार दर्पण से बाहर रहनेवाले जो मुख आदि पदार्थ हैं; उन्हीं का प्रतिबिम्ब दर्पण में भासित होता है, उसी प्रकार ब्रह्म में तदन्तर्गत होने के कारण प्रतिबिम्ब-रूप जगत् भासित होता है। अब यहाँ यह आशंका होती है कि जिस प्रकार दर्पण से भिन्न और उसके बाहर मुख आदि की सत्ता अवश्य रहती है, उसी प्रकार ब्रह्म से भिन्न और उसके बाहर जगत् की सत्ता को अवश्य स्वीकार करना होगा। क्योंकि, बिम्ब के विना प्रतिबिम्ब का होना असम्भव है। यदि ब्रह्म से भिन्न जगत् की सत्ता स्वीकार कर लें, तो द्वैत होने से अद्वैत-सिद्धान्त भंग हो जाता है। यदि इस दोष के परिहार के लिए ब्रह्म से भिन्न बिम्बभूत जगत् की सत्ता न मानें, तो 'प्रतिबिम्बवाद' के मूल में ही कुठाराघात हो जाता है। क्योंकि, बिम्ब के अधीन ही प्रतिबिम्ब की स्थिति रहती है, यह पहले ही कह चुके हैं। इसलिए, प्रतिबिम्बवाद को नहीं मानना चाहिए।

इसका उत्तर यह होता है कि यह बात ठीक है कि बिम्ब के अधीन प्रतिबिम्ब की स्थिति होने से प्रतिबिम्ब का कारण बिम्ब होता है, परन्तु वह उपादान कारण नहीं है, किन्तु निमित्त कारण है। क्योंकि, उपादान कारण कार्यावस्था में कार्य के साथ ही

अन्वित रहता है, कार्य से पृथक् उसकी स्थिति नहीं रहती। जैसे, घट का उपादान मृत्तिका घट के साथ ही कार्यावस्था में रहती है, घट से पृथक् नहीं, इसीलिए मृत्तिका घट का उपादान कहलाती है। और, दण्ड कार्यावस्था में भी घट से पृथक् देखा जाता है, इसलिए दण्ड घट का निमित्त-कारण कहा जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रतिबिम्ब से कार्यावस्था में भी पृथक् दृश्यमान होने के कारण प्रतिबिम्ब का निमित्त-कारण ही बिम्ब है, उपादान नहीं। अब यहाँ यह विचार करना है कि कार्योत्पत्ति में निमित्त-कारण की नियमेन स्वरूपतः अपेक्षा है या नहीं? यदि नियमेन स्वरूपतः निमित्त की अपेक्षा मानें, तब तो दण्ड के अभाव में घट की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए। और, देखा जाता है कि दण्ड के अभाव में भी हाथ से चाक को घुमाकर घट बनाया जाता है। इससे सिद्ध होता है कि कार्योत्पत्ति में निमित्त कारण की स्वरूपतः नियमेन अपेक्षा नहीं है।

जिस प्रकार दण्ड के अभाव में भी दण्ड के स्थान में हाथ से चाक घुमाकर घट की उत्पत्ति हो जाती है, उसी प्रकार बिम्ब-रूप जो निमित्त कारण जगत् है, उसके अभाव में भी बिम्बस्थानीय माया के सम्बन्ध से ही ब्रह्म में जगत्-रूप प्रतिबिम्ब का भान होता है। इसलिए, प्रतिबिम्बवाद को दुर्घट नहीं कह सकते।

## ख्याति-विचार

इन सब मतभेदों का प्रदर्शन केवल मूल कारण के विषय में ही है, अन्यत्र यथासम्भव सबकी व्यवस्था देखी जाती है। जैसे, शुक्ति में जहाँ रजत का भ्रम होता है, वहाँ प्रायः सब लोगों ने शुक्ति को रजत का विवर्त्तोपादान नहीं माना है। यहाँ तक कि परिणामवाद के मुख्य आचार्य सांख्य और पातञ्जल ने भी परिणामवाद का आदर न कर विवर्त्तवाद को ही माना है। यहाँ शुक्ति में रजत की प्रतीति के समय अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति होती है, यह बात प्रायः सब लोग मानते हैं। इसी का नाम 'अनिर्वचनीय ख्याति' है।

आरम्भवाद को माननेवाले नैयायिकों और वैशेषिकों ने भी यहाँ आरम्भवाद को नहीं माना है। केवल इनका यही कहना है कि यहाँ न रजत है, और न वह उत्पन्न ही होता है, दोषवश शुक्ति ही रजत-रूप से भासित होती है। इसी का नाम 'अन्यथाख्याति' है।

## सत्ख्यातिवाद

रामानुजाचार्य के मतानुयायियों का कहना है कि यदि वहाँ रजत न होता, तो रजत की प्रतीति कभी नहीं होती, और प्रतीति होती है, इसलिए वहाँ रजत का अस्तित्व अवश्य मानना होगा। किन्तु, उसका अस्तित्व प्रतीति-क्षण में ही उत्पन्न होता है, यह जो कोई कहते हैं, वह युक्त नहीं है। क्योंकि, ऐसा मानने में विकल्प शङ्काओं का समाधान नहीं होता। यहाँ शङ्का इस प्रकार होती है कि शुक्ति में रजत-उत्पादन करने की शक्ति या सामग्री है, अथवा नहीं? यदि कहें कि शुक्ति में रजत-उत्पादन करने की सामग्री नहीं है, तब तो किसी भी अवस्था में रजत नहीं उत्पन्न हो सकता।

क्योंकि, सामग्री-रूप कारण के अभाव में रजत-रूप कार्य का अभाव होना स्वाभाविक है—'कारणाभावात् कार्याभावः।' यदि कहें कि दोष से वहाँ रजत की उत्पत्ति होती है, तोभी ठीक नहीं है; क्योंकि दोष का यह स्वभाव है कि दोष के नहीं रहने पर वस्तु के जितने अंश का यथार्थ ज्ञान होता है, उससे अधिक अंश का ज्ञान वह नहीं करा सकता। जैसे, दोष-रहित किसी पुरुष के समीप यदि कोई आवे, तो उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का ज्ञान जितना अंश में स्पष्टतया होगा, तिमिरादि दोष हो जाने पर उसकी अपेक्षा कम अंशों का ही ज्ञान होगा, अधिक का नहीं। तात्पर्य यही है कि दोष से पहले जितने अंश का यथार्थ ज्ञान होता है, दोष होने के बाद उससे अधिक अंश का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता, किन्तु उसके कम अंश का ही ज्ञान होगा। इसलिए, वास्तविक पक्ष में शुक्ति के यथार्थ ज्ञान में रजत का भान नहीं होता; अतएव दोष भी रजत-अंश को उत्पन्न नहीं कर सकता।

यदि यह कहें कि शुक्ति में रजत की प्रतीति होने से, शुक्ति में रजत की उत्पादक सामग्री अवश्य रहती है, तब तो मेरा ही पक्ष सिद्ध होता है। भेद केवल इतना ही है कि उस सामग्री से उत्पन्न होनेवाला रजत शुक्ति के उत्पत्ति-काल में ही होगा, प्रतीति-काल में, जो आपका अभिमत है, नहीं। एक बात और है कि रजत की जो उत्पादक सामग्री है, वह शुक्ति की उत्पादक सामग्री की अपेक्षा बहुत कम है। जिस समय तिमिरादि दोष से अधिक भी शुक्ति-अंश की प्रतीति नहीं होती, उस समय स्वल्प भी रजत का अंश, स्वयं भासित होने लगता है। और, दोष के हट जाने पर शुक्ति की प्रतीति होने लगती है। उस समय, अधिक जो शुक्ति का अंश है, उससे दृष्टि का प्रतिघात हो जाने से विद्यमान रजत-अंश का भी भान नहीं होता, जिस प्रकार, सूर्य के तेज से दृष्टि का प्रतिघात हो जाने पर आकाश में विद्यमान नक्षत्रों का भी भान नहीं होता। सभी भ्रम-स्थलों में यही रीति समझनी चाहिए। इसी का नाम 'सत्ख्यातिवाद' है।

## अख्यातिवाद

इस विषय में मीमांसकों का कहना है कि रजत भ्रम-स्थल में रजत किसी प्रकार भी नहीं है, और प्रतीति के समय भी उत्पन्न नहीं होता है। किन्तु, 'इदं रजतम्'—इस ज्ञान में 'इदम्' अंश का ही प्रत्यक्ष होता है, रजत-अंश का नहीं। इदम् अंश के प्रत्यक्ष होने से इदम् अंश के सदृश होने के कारण रजत का जो पूर्व सञ्चित संस्कार है, उसका उद्बोध हो जाता है, और उसीसे रजत का स्मरण-मात्र होता है। रजत का अनुभव नहीं होता है।

इसका निष्कर्ष यह होता है कि रजत भ्रम-स्थल में इदम् अंश का प्रत्यक्ष और रजत-अंश का स्मरण ये दो ज्ञान होते हैं। यहाँ इदम् अंश के प्रत्यक्ष से विरुद्ध स्मरण में परोक्षत्व-अंश है। इसी प्रकार स्मरण से विरुद्ध प्रत्यक्ष में शुक्ति का अंश है। तिमिर आदि दोष से जब-जब दोनों विरुद्ध अंशों का भान नहीं होता, उस समय दोनों में विलक्षणता की प्रतीति नहीं होती। इसलिए, दोनों ज्ञान भी एक समान ही भासित होते हैं। इसी का नाम 'अख्याति' है।

प्रसंगानुसार ख्याति के विषय में सब दर्शनकारों का जो मत दिखाया गया है, उसका निष्कर्ष यही निकलता है कि परिणामवाद को माननेवाले सांख्य और पातञ्जल भी ऐसे भ्रम-स्थलों में विवर्त्तवाद को ही मानते हैं, और विवर्त्तवाद को माननेवाले शंकराचार्य भी दही में दूध का दही-रूप से परिणाम मानते ही हैं। केवल नैयायिक और वैशेषिक यहाँ और पट आदि स्थलों में 'आरम्भवाद' को ही मानते हैं। धान की राशि में प्रायः सब लोग 'संघातवाद' मानते हैं। इस प्रकार, मूल कारण से इतर स्थल में यथासम्भव आरम्भादि वादों की व्यवस्था होनी चाहिए। एक बात और भी है कि शंकराचार्य के अनुयायियों ने भी मूल कारण के विषय में यद्यपि विवर्त्तवाद माना है, तथापि वे ही लोग कारण-भेद से परिणामवाद को वहाँ भी मानते हैं। उदाहरण के लिए प्रकृति, माया आदि पदवाच्य जो आत्मशक्ति है, उसको परिणामी उपादान कारण सब लोगों ने माना है।

## कार्य-कारण में भेदाभेद का विचार

आरम्भवाद में उपादान कारण अपने से भिन्न कार्य को उत्पन्न करता है, यह पहले भी कहा जा चुका है। अब विचारना यह है कि जब कारण से कार्य को भिन्न मानते हैं, तब तो दोनों के साथ एक सम्बन्ध को भी अवश्य मानना होगा। नैयायिकों ने समवाय नाम का एक सम्बन्ध माना भी है। अब यहाँ यह शंका होती है कि पट में तन्तु और पट ये दो वस्तुएँ पृथक्-पृथक् प्रतीत नहीं होतीं। इस अवस्था में कार्य-कारण का भेद, अनुपलब्धि-प्रमाण से बाधित होने पर भी, नैयायिक और वैशेषिक स्वीकार करते हैं, यह एक गौरव हो जाता है। भेद मानने पर भी दोनों के बीच एक सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ता है, यह एक दूसरा गौरव है। इतना गौरव आदि दोष रहने पर भी नैयायिकों और वैशेषिकों का भेद मानना समुचित नहीं प्रतीत होता।

इसका उत्तर यह होता है कि यदि तन्तु और पट में भेद न मानें, तो तन्तु में भी पट-बुद्धि होनी चाहिए, परन्तु किसी भी तन्तु में पट-बुद्धि नहीं देखी जाती। और, तन्तु में 'पट' शब्द का व्यवहार भी कोई नहीं करता। लोक में पट से जो व्यवहार होता है, वह तन्तु से नहीं देखा जाता। और 'पट', शब्द से जिस आकार का बोध होता है, वह भी तन्तु से नहीं होता। तन्तु में बहुत्व और पट में एकत्व-संख्या भी देखी जाती है। इस प्रकार, बुद्धि-भेद, शब्द-भेद, आकार-भेद, कार्य-भेद और संख्या-भेद होने के कारण नैयायिक और वैशेषिक कार्य और कारण में भेद को स्वीकार करते हैं। इस अवस्था में असत् जो पटादि कार्य हैं, वे कारक-व्यापार से उत्पन्न होते हैं, यह सिद्ध होता है। सत्ता के साथ सम्बन्ध होना ही उत्पत्ति है। यह भी सिद्ध हो गया। इसी का नाम 'असत् कार्यवाद' है।

इन आरम्भवादियों के अतिरिक्त संघातवादी, परिणामवादी और विवर्त्तवादी कार्य और कारण में भेद मानते ही नहीं, इसलिए इनके मत में समवाय-सम्बन्ध भी स्वीकार नहीं करना पड़ता। उपादान के अवस्था-विशेष का ही नाम कार्य है, यह इनका सिद्धान्त है। बुद्धि आदि का भेद तो अवस्था आदि के भेद होने से भी हो सकता है; इसलिए वे भेद के साधक नहीं हो सकते।

और भी, यदि कार्य और कारण में भेद मानें, तो कारण में जो परिमाण है, उससे द्विगुण परिमाण कार्य होना चाहिए। क्योंकि, कारण का जो परिमाण है, वह अविनष्ट रूप से कार्य में विद्यमान है और उससे भिन्न कार्य का भी परिमाण उतना ही अलग होना चाहिए। इस प्रकार, दोनों के विभिन्न परिमाण होने से भेद-पक्ष मानने में कार्य का द्विगुण परिमाण होना अत्यावश्यक हो जाता है। और, उस प्रकार का द्विगुण परिमाण कार्य में नहीं देखा जाता; इसलिए कारण के अवस्था-विशेष का ही नाम कार्य है, यह मानना आवश्यक होता है। कारण का अवस्था-विशेष रूप से जो आविर्भाव होता है, उसी का नाम 'उत्पत्ति' है। इन अवस्था-विशेषों का जो आविर्भाव और तिरोभाव है, वह उन वस्तुओं के स्वभाव से ही हुआ करता है।

पट (वस्त्र) आदि कार्यों के तुरी[1], वेमा[2] आदि जो कारण हैं, वे तन्तु के इस (वस्त्ररूप) अवस्थाविशेष की प्राप्ति में जो प्रतिबन्धक हैं, उन्हीं को 'दूर' करते हैं। कारक व्यापार का भी, प्रतिबन्धक के दूर करने में ही, साफल्य है। अर्थात्, कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार का जो लोक में व्यवहार है, उसका तात्पर्य यही है कि कारण के कार्यावस्था प्राप्त करने में जो प्रतिबन्धक हैं, उन्हीं को दूर करना कारण या कारक व्यापार का काम है, दूसरा नहीं। यह बात योग-सूत्र की वृत्ति में नागेश भट्ट ने स्पष्ट लिखी है। जिस प्रकार स्वभाव से ही नीचे की ओर बहता हुआ जो जल है, उसका प्रतिबन्धक सेतु होता है, उसी प्रकार सुखकारक वस्तु के रूप से स्वभावतः परिणत होती हुई जो प्रकृति है, उसका प्रतिबन्धक, उस सुख के भोग करनेवाले पुरुषों का पाप-कर्म होता है। इसी प्रकार, दुःखकारक वस्तु के रूप से स्वभावतः परिणत होती हुई जो प्रकृति है, उसका प्रतिबन्धक भोक्ता पुरुषों का पुण्य-कर्म होता है। अर्थात्, सुखकारक वस्तु के रूप से प्रकृति का स्वयं स्वभाव से ही परिणाम होता रहता है। केवल मनुष्य का किया हुआ पाप कर्म ही, सुखकारक वस्तु के रूप में, प्रकृति के परिणाम को रोकता है। इसी प्रकार, दुःखकारक वस्तु के रूप से प्रकृति के स्वतः परिणाम को, मनुष्यों का किया हुआ पुण्य-कर्म, प्रतिबन्धक होकर, रोकता है।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पट आदि कार्य उत्पत्ति से पहले भी तन्तु आदि के रूप में विद्यमान ही था, इसलिए इनके मत में सत्कार्यवाद सिद्ध हो जाता है। सत्कार्यवाद का सिद्धान्त है कि कार्य की उत्पत्ति के पहले और नाश के बाद भी किसी रूप में कार्य की सत्ता अवश्य रहती है। वस्त्र के फट जाने पर और जल जाने पर भी खण्ड और भस्मादि रूप से उसकी सत्ता मानी जाती है। विनष्ट हुई वस्तुओं के विनाश के बाद भी किसी रूप में उसकी स्थिति देखी जाती है। इसलिए, सर्वत्र विनाश अन्वय के साथ ही रहता है, यह बात सिद्ध होती है। और इसीलिए, विनाश-कार्य का

---

१. जुलाहों के कपड़ा बुनने का काठ का एक औजार, जिससे बाने का सूत भरा जाता है। तोरिया, हत्थी। २. करघा।

जो रूप रहता है, उसी रूप से उसकी सत्ता का निरूपण करना चाहिए। तपाये हुए लौह-पिण्ड के ऊपर जो जल का बिन्दु गिरता है, यद्यपि उसका कोई भी अवयव नहीं देखा जाता, तथापि उसकी सत्ता अदृश्यावयव[1] रूप से मानी जाती है। अर्थात्, उस जलबिन्दु का अवयव लौह-पिण्ड से पृथक् अदृश्य-रूप में रहता ही है, सर्वथा उसका नाश कभी नहीं होता। यही सत्कार्यवाद का सिद्धान्त है।

## जड़-वर्ग की सृष्टि का प्रयोजन

इन सब वादों पर विचार करने के बाद यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जड़-वर्ग की सृष्टि का क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर यही होता है कि जितने जड़-वर्ग हैं, वे भोक्ता जीवात्मा के भोग्य हैं। जीवात्माओं के भोग के लिए ही इनकी सृष्टि होती है। यह सर्वसिद्धान्त मत है। जीवात्मा को जब शब्दादि विषयों का, इन्द्रियों की सहायता से, अनुभव होता है। उस समय जीवात्मा अपनी मनोवृत्ति के अनुसार सुख या दुःख का अनुभव करता है। यद्यपि इन्द्रियाँ भी विषयों की तरह जड़ ही हैं, तथापि, सात्त्विक होने के कारण इन्द्रियों में प्रकाशकत्व-शक्ति रहती है, और घटादि विषयों में नहीं। क्योंकि, घटादि विषयों में तमोगुण की प्रबलता से सत्त्वगुण नहीं के बराबर रहता है।

## इन्द्रियों की भौतिकता

नैयायिक और वैशेषिक इन दोनों के मत में इन्द्रियों को भौतिक माना जाता है। इनका कहना है कि किसी प्रकार इन्द्रियों को यदि भौतिक न मानें, तो विषयों के ग्रहण का जो प्रतिनियम है, वह नहीं बनता। अर्थात्, इन्द्रियाँ भूतों के विशेष गुणों के ग्रहण में समर्थ होती हैं। जैसे आकाश का विशेष गुण जो शब्द है, उसी का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय करती है, शब्द से भिन्न दूसरे किसी भी विषयों के गुणों का ग्रहण नहीं करती। इसलिए, सिद्ध होता है कि श्रोत्रेन्द्रिय आकाश का ही कार्य है। इसी प्रकार, त्वगिन्द्रिय भी वायु का विशेष गुण जो स्पर्श है, उसी के ग्रहण में समर्थ होती है, उससे भिन्न रूप आदि के ग्रहण में समर्थ नहीं होती। इसलिए, त्वगिन्द्रिय वायु का ही कार्य है। चक्षुरिन्द्रिय, तेज का विशेष गुण जो रूप है, उसी का ग्रहण करता है, दूसरे का नहीं, इसलिए चक्षु तेज का कार्य है। इसी प्रकार, रसनेन्द्रिय, जल के विशेष गुण रस का ही ग्रहण करती है, दूसरे का नहीं, इसलिए रसनेन्द्रिय जल का कार्य सिद्ध होती है। और, घ्राणेन्द्रिय भी पृथिवी के विशेष गुण गन्ध का ही ग्रहण करती है, दूसरे का नहीं, इसलिए घ्राणेन्द्रिय पार्थिव सिद्ध होती है। सारांश यह हुआ कि भूतों के विशेष गुणों के ग्रहण करने के कारण ही इन्द्रियाँ भौतिक कहलाती हैं।

एक बात और भी ज्ञातव्य है कि पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार भूतों के जो परमाणु हैं; वे प्रत्येक सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार के होते हैं। और,

---

१. जिसका अवयव नहीं देखा जाय।

आकाश तो स्वभावतः सात्त्विक है। सात्त्विक अंश से ही इन्द्रियों की उत्पत्ति भी मानी जाती है, इसलिए इन्द्रियों को सात्त्विक कहना न्याय-संगत ही है।

सांख्य और पातञ्जल के मत में इन्द्रियों को भौतिक नहीं माना जाता। इनके मत में इन्द्रियों को सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न होने के कारण आहङ्कारिक माना जाता है। आकाश आदि पञ्चमहाभूतों के कारण जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पञ्च-तन्मात्र हैं, उन्हीं की सहायता से सात्विक अहङ्कार इन्द्रियों को उत्पन्न करता है। इसीलिए, इन्द्रियों के विशेष विषयों के ग्रहण करने का जो नियम है, वह विरुद्ध नहीं होता। यथा, शब्द-तन्मात्र की सहायता से सात्त्विक अहङ्कार श्रोत्रेन्द्रिय को उत्पन्न करता है, इसीलिए श्रोत्रेन्द्रिय शब्द का ही ग्रहण करती है, रूपादि का नहीं। इसी प्रकार स्पर्श-तन्मात्र की सहायता से त्वगिन्द्रिय, रूप-तन्मात्र की सहायता से चक्षुरिन्द्रिय, रस-तन्मात्र की सहायता से रसनेन्द्रिय और गन्ध-तन्मात्र की सहायता से घ्राणेन्द्रिय की उत्पत्ति सात्त्विक अंश से होती है। इसलिए, जो इन्द्रिय जिस तन्मात्र की सहायता से उत्पन्न होती है, वह इन्द्रिय उसी विषय के ग्रहण करने में समर्थ होती है, यह नियम सिद्ध होता है। कतिपय विद्वान् इन्द्रियों की उत्पत्ति में तन्मात्राओं की सहायता नहीं मानते। इनका सिद्धान्त है कि इन्द्रियों की उत्पत्ति के बाद भूत-तन्मात्र इनके पोषक होते हैं और नियमतः पोषक-तन्मात्राओं के अनुसार ही विषयों का ग्रहण होता है।

इस प्रकार, किसी के मत में इन्द्रियों को भौतिक माना जाता है और किसी के मत में आहङ्कारिक। परन्तु, शङ्कराचार्य का किसी भी मत में आग्रह नहीं है, अर्थात् दोनों में किसी पक्ष को मानें, उनकी दृष्टि में कुछ विरोध नहीं है। इसीलिए, शारीरिक भाष्य में, 'अन्तरा-विज्ञान-मनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात्', इस सूत्र के ऊपर लिखा है—'यदि तावद् भौतिकानीन्द्रियाणि ततो भूतोत्पत्तिप्रलयाभ्यामेवैषामुत्पत्तिप्रलयौ भवतः', अर्थात्—यदि इन्द्रियों को भौतिक मानें, तो भूतों की उत्पत्ति और प्रलय के साथ ही इन्द्रियों की उत्पत्ति और प्रलय होता है, यह मानना होगा। इस प्रकार, उत्पत्ति और प्रलय दिखाकर 'अथ त्वभौतिकानीन्द्रियाणि' इत्यादि ग्रन्थों से इन्द्रियों के अभौतिकत्व अर्थात् आहङ्कारिकत्व-साधन में विरोध का परिहार किया है। इस प्रकार, दोनों पक्षों का समर्थन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि किसी एक पक्ष-विशेष में शङ्कराचार्य का पक्षपात या आग्रह नहीं है। विद्यारण्य मुनि ने इन्द्रियों को भौतिक माना है—'सत्वांशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमादिन्द्रियपञ्चकम्' इत्यादि श्लोकों में भूतों के सत्त्व अंश से ही इन्द्रियों की उत्पत्ति का वर्णन किया है।

## इन्द्रियों का परिमाण

इन्द्रियों के परिमाण के विषय में अनेक दार्शनिकों का मत है कि इन्द्रियों का अणु-परिमाण है। सांख्य और पातञ्जल के मत में इन्द्रियों का परिमाण विभु अर्थात् व्यापक माना जाता है। इन्द्रियों में किसी इन्द्रिय का भी किसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष ज्ञान

नहीं होता है, अनुमान से ही इन्द्रियों का ज्ञान किया जाता है, इसलिए इन्द्रियों को अतीन्द्रिय कहा जाता है।

## कर्मेन्द्रियों का भौतिकत्व

ज्ञानेन्द्रियों के सदृश कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति भी पञ्चभूतों से ही मानी जाती है। प्रत्येक भूतों से ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के भेद से दो-दो इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। आकाश से ज्ञानशक्ति के द्वारा श्रोत्र और क्रियाशक्ति के द्वारा वाग्-इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार वायु से त्वगिन्द्रिय और पाणि, तेज से नेत्रेन्द्रिय और पाद, जल से रसनेन्द्रिय और पायु और पृथ्वी से घ्राणेन्द्रिय और उपस्थ की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार प्रत्येक भूतों से ज्ञानशक्ति की सहायता से ज्ञानेन्द्रिय और क्रियाशक्ति की सहायता से कर्मेन्द्रिय, ये दो-दो इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार, शब्द आकाश का गुण है, इसलिए शब्द का ग्राहक श्रोत्रेन्द्रिय भी आकाशीय सिद्ध होता है। शब्द के अभिव्यञ्जक होने से वागिन्द्रिय भी अकाशीय होता है। वायु का गुण स्पर्श है और स्पर्श का ग्राहक त्वगिन्द्रिय है, इसलिए त्वगिन्द्रिय वायवीय सिद्ध होता है, इसी प्रकार वायु में क्रियाशक्ति प्रधान है और पाणि में भी क्रिया अधिक देखी जाती है, इसलिए पाणि भी वायवीय सिद्ध होता है। तेज का गुण रूप होता है और रूप का ग्राहक है चक्षु, इसलिए चक्षु तैजस या तेजोरूप कहा जाता है, इसी प्रकार पाद-तल में तैलादि के मर्दन से नेत्र का सुस्वास्थ्य होता है, इसलिए नेत्र के साथ पाद का अधिक सम्बन्ध होने के कारण पाद भी तैजस कहा जाता है। जल का गुण रस है, इसलिए रस के ग्राहक रसनेन्द्रिय को और जल के सदृश मल-शोधक और जीवन का आधार होने से पायु को जलीय कहा जाता है। पृथ्वी का गुण गन्ध है, इसलिए गन्ध का ग्राहक घ्राणेन्द्रिय को और दुर्गन्धव्यञ्जक होने के कारण उपस्थ-इन्द्रिय को पार्थिव कहा जाता है।

यहाँ एक शङ्का होती है कि जिस प्रकार तेज के गुण रूप के ग्राहक होने से चक्षु को तैजस कहते हैं, उसी प्रकार तेज में अनुभूयमान जो स्पर्श है, उसके ग्राहक होने से त्वगिन्द्रिय को भी तैजस क्यों नहीं कहते? इसका उत्तर यह होता है कि यद्यपि तेज में स्पर्श का अनुभव होता है, तथापि वह तेज का प्राकृतिक गुण नहीं है। केवल कारण ( वायु ) के सम्बन्ध से तेज में स्पर्श का अनुभव होता है। इसी प्रकार, जल आदि में भी रूपादि का अनुभव कारण-गुणपूर्वक होता है।

## मन

मन उपर्युक्त सब इन्द्रियों का प्रेरक होता है। कर्मेन्द्रियों को प्राण के द्वारा वह प्रेरित करता है, और ज्ञानेन्द्रियों को भी प्राण की सहायता से ही स्वयं प्रेरित करता है। नैयायिक और वैशेषिक मन को भौतिक नहीं मानते हैं। इनके मत में मन को स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है।

सांख्य और पातञ्जल का सिद्धान्त है कि राजस अहङ्कार से सहकृत अर्थात् युक्त जो सात्त्विक अहङ्कार है, उसीसे मन की उत्पत्ति होती है। अद्वैत वेदान्तियों का मत है कि

सब महाभूतों के सात्त्विक अंश से मन की उत्पत्ति होती है। इसमें कुछ लोगों का कहना है कि यद्यपि मन में सब भूतों का अंश है, तथापि वायु का अंश सबसे अधिक है, इसीलिए मन की गति सबसे अधिक है।

न्याय आदि दर्शनों में मन का अणु-परिमाण माना गया है। सांख्य-तत्त्व-विवेचन तथा 'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः'—इस सूत्र की नागेशकृत वृत्ति में मन को विभु माना गया है। इसलिए, सांख्य और पातञ्जल के मत में मन विभु सिद्ध होता है। मीमांसकों का भी यही सिद्धान्त है। जो मन को अणु-परिमाण मानते हैं, उनके मत में मन का एक काल में अनेक इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता, इसीलिए अनेक विषयों का एक काल में ज्ञान भी नहीं होता। अष्टावधानियों और शतावधानियों को एक काल में अनेक ज्ञान जो प्रतीत होता है, वह भी भ्रम ही है। वहाँ जितने ज्ञान होते हैं; उन ज्ञानों के अधिकरण कालांश उतने ही प्रकार के भिन्न-भिन्न होते हैं। उन कालांशों का अन्तर इतना सूक्ष्म होता है कि उनका ज्ञान होना असम्भव है। इसीलिए, एक ही काल में अनेक ज्ञान होते हैं, इस प्रकार का भ्रम निवृत्त नहीं होता। रसगुल्ला आदि मिष्टान्नों के खाने में जो रस, गन्ध स्पर्श आदि की प्रतीति एक ही काल में होती है, वह भी अत्यन्त सूक्ष्मतर कालांशों के ज्ञान न होने के कारण ही। वास्तव में यह प्रतीति भी भ्रम ही है। मन को जो विभु मानते हैं, उनके मत में एक काल में अनेक ज्ञान होना सम्भव है। क्योंकि, मन के व्यापक होने के कारण एक काल में भी अनेक इन्द्रियों के साथ इसका सम्बन्ध होना स्वाभाविक है।

मन की चार वृत्तियाँ होती हैं: १—संशयात्मिका, २—निश्चयात्मिका, ३—गर्वात्मिका और ४—स्मरणात्मिका। एक ही मन चार वृत्तियों के भेद से चार स्वरूप को धारण करता है। जिस समय संशयात्मक वृत्ति रहती है, उस समय 'मन' कहा जाता है। जब निश्चयात्मिका वृत्ति रहती है, तब बुद्धि कही जाती है। इसी प्रकार गर्वात्मिका वृत्ति से 'अहङ्कार' और स्मरणात्मिका वृत्ति से 'चित्त' कहा जाता है। पूर्णप्रज्ञाचार्य के मतानुयायियों के मत में मन की पाँच अवस्थाएँ हैं—मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त और चेतना। चित्त की व्याप्ति का नाम चेतना है।

नकुलीश पाशुपत दर्शन में तीन ही प्रकार का अन्तःकरण माना गया है—मन, बुद्धि और अहङ्कार। इन तीन प्रकार के अन्तःकरण की वृत्तियाँ भी क्रमशः तीन ही प्रकार की हैं—संकल्प, अध्यवसाय और गर्व अर्थात् अहङ्कार। इनके मत में चित्त मन की अवस्था-विशेष का नाम नहीं है। किन्तु, जीव का बोध-स्वरूप जो गुण है, वही चित्त है।

## ज्ञान

मन का मुख्य प्रयोजन ज्ञान ही है। चैतन्य का ही नाम ज्ञान है, जिसका दूसरा नाम दृक्-शक्ति है। माहेश्वर लोग चैतन्य के दो भेद मानते हैं—एक दृक्-शक्ति और दूसरी क्रिया-शक्ति। यहाँ यह भी जान लेना चाहिए कि विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध से उपकृत जो मन है, वही प्रत्यक्ष ज्ञान का जनक है। परोक्ष ज्ञान के उत्पादन में

मन को विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं होती। परोक्ष ज्ञान में मन की स्वतन्त्रता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में मन विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध के अधीन रहता है, अर्थात् विना विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध के केवल मन प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता। वहाँ विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर वह सम्बन्ध ही, इन्द्रिय से स्पृष्ट जो मन है, उससे संयुक्त आत्मा में किसी गुणविशेष को उत्पन्न करता है, इसी गुणविशेष का नाम 'ज्ञान' है। यह नैयायिकों और वैशेषिकों का सिद्धान्त है। इनके मत में ज्ञान, निराकार और अनित्य माना जाता है। केवल ईश्वर का ज्ञान नित्य है। रामानुजाचार्य के मत में जीव का भी ज्ञान नित्य माना गया है। विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध से केवल घट-ज्ञान, पट-ज्ञान इत्यादि विशेष अवस्थाओं के रूप से प्रकाशित होते हैं। और, सब विषयों में नैयायिकों का सिद्धान्त ही इनका अभिमत है। नकुलीश पाशुपत दर्शन में चित्त नाम का जो जीव का विशेष गुण है, वही बोधरूप होने के कारण विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध होने पर दीप की तरह घटादि पदार्थों को को प्रकाशित करता है।

वैभासिक बौद्धों के मत में घटादि पदार्थों के दो रूप होते हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। बाह्य रूप घटादि पदार्थ जल के आहरण आदि लौकिक कार्य का सम्पादन करता है और उनका आभ्यन्तर जो रूप है, वही जब विषय और इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होता है, तब इन्द्रियों के द्वारा इन्द्रियों से सम्बद्ध मन में प्रवेश करता है, इसीको 'ज्ञान' कहते हैं। इनके मत में एक लोक-व्यवहार भी सुगमता से उत्पन्न हो जाता है। जब गुरु शिष्य को किसी पदार्थ को समझाता है, तब उसकी परीक्षा के लिए पूछता है—'आगतं किल ते मनसि'? अर्थात् यह विषय तुम्हारे मन में आया? इस प्रश्न से स्पष्ट प्रतीत होता है कि विषय-स्वरूप का मन में आना ही 'ज्ञान' कहा जाता है। विज्ञानवादी जो बौद्ध हैं, उनके मत में बाह्य अर्थ कुछ भी नहीं है। विज्ञान-स्कन्ध ही पूर्व-संस्कार से उन घट, पट आदि विषयों के आकार में परिणत होता रहता है और बाह्य रूप प्रतीत होता है। बौद्धों के मत में ज्ञान साकार है और क्षणिक होने से अनित्य भी माना जाता है। माध्वाचार्य के मत में मन के परिणाम-विशेष को ही 'ज्ञान' माना जाता है।

पातञ्जल दर्शन में मन को विभु माना गया है। उसी व्यापक मन का जो हृदय-प्रदेश है, उसी की, विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध से, परिणति होती है, उसी परिणति का नाम मनोवृत्ति है, उसी मनोवृत्ति का आत्मा में प्रतिबिम्ब पड़ता है। वह प्रतिबिम्ब भी व्यापक आत्मा के हृदय-प्रदेश में ही पड़ता है। उसी मनोवृत्ति के प्रतिबिम्ब से युक्त जो आत्म-चैतन्य है, वही इनके मत में 'ज्ञान' है।

सांख्यों के मत में विषय से सम्बद्ध जो मनःप्रदेश है, उसी का परिणाम होता है और विषय-सम्बद्ध जो आत्मप्रदेश है, वही प्रतिबिम्ब होता है। इतना ही पातञ्जल मत से इनके मत में भेद है।

सांख्यवादी एकदेशी मन को अणु मानते हैं। उनके मत में इन्द्रियों के द्वारा मन का विषय-प्रदेश में गमन होता है, और वहीं परिणाम भी होता है। अद्वैत वेदान्तियों में मत में भी मन को अणु माना गया है। इसलिए, इन्द्रिय द्वारा

विषय-प्रदेश में मन का गमन और वहीं विषयाकार से मन का परिणाम, ये दोनों पूर्वोक्त सांख्य मत के तुल्य ही हैं। परिणाम को ही वृत्ति कहते हैं, और उस वृत्ति से सम्बद्ध आत्म-चैतन्य ही ज्ञान है। मूर्त्त और अमूर्त्त निखिल जगद्‌व्यापक जो आत्मा है, उसकी व्याप्ति जिस प्रकार विषय, हृदय और मन में है, उसी प्रकार मनोवृत्ति में भी उसकी व्याप्ति रहती है। आत्म-स्वरूप का ही नाम चैतन्य है। इनके मत में ज्ञान को साकार और अनित्य माना जाता है। यद्यपि इनके मत में चैतन्य नित्य है, तथापि वृत्ति से सम्बद्ध चैतन्य को औपाधिक होने के कारण अनित्य ही माना जाता है। एक बात और भी है—परोक्ष ज्ञान-काल में मन का विषय-प्रदेश में गमन नहीं होता है। क्योंकि, विषय और इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध न होने से वहाँ मन के गमन का कोई साधन नहीं रहता है। अनुमान या शब्दादि से होनेवाला ज्ञान परोक्ष ही होता है। इस प्रकार शब्द आदि अर्थ का ज्ञान कराना मन का प्रयोजन सिद्ध होता है।

## पदार्थ-विचार

तीनों लोक में विद्यमान जो पदार्थ हैं, उनका संकलन वैशेषिकों ने सात ही पदार्थों के अन्तर्गत किया है। किन्तु, इनके अतिरिक्त भी कितने पदार्थों का संग्रह अन्य दर्शनों में मिलता है। इन सातों में भी कई एक पदार्थों को और दर्शनकारों ने नहीं माना है। किसी दूसरे में ही इनका अन्तर्भाव किया है। इन सब बातों को संक्षेप में दिखाया जाता है।

वैशेषिकों के मत में सात ही पदार्थ माने जाते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन, ये ही नौ द्रव्य हैं। गुण चौबीस प्रकार के होते हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार। पाँच कर्म हैं—उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन। इन सबको चलनात्मक कहते हैं। पर और अपर दो प्रकार का सामान्य होता है। नित्य द्रव्य में रहनेवाले विशेष अनन्त प्रकार का होता है। समवाय एक ही होता है। अभाव चार प्रकार का होता है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव।

जगत् में चेतन, अचेतन जितने पदार्थ हैं, उनके यथार्थतः स्वरूप-ज्ञान के लिए, द्रव्य क्या है? उनके गुण कौन-कौन हैं? धर्मी क्या है, उसका धर्म क्या है? उसकी जाति कैसी है? किसके साथ किसका साधर्म्य और किसके साथ किसका वैधर्म्य है? इत्यादि बातों का ज्ञान परमावश्यक है। किसी वस्तु का यदि कहीं पर साधन करना होता है, तो साधर्म्य या वैधर्म्य के दृष्टान्त से ही उस वस्तु का यथार्थ स्वरूप बुद्धि पर आरूढ होता है। 'दृष्टान्त' का ही नाम 'उदाहरण' और 'निदर्शन' है। 'दृष्टः अन्तः अर्थात् निश्चयो येन सः'—यही दृष्टान्त शब्द की व्युत्पत्ति है। अर्थात्,

जिसके द्वारा सिद्धान्त का निश्चय किया जाय, वही 'दृष्टान्त' है। अनुमान से जो ज्ञान होता है, उसका निश्चय दृष्टान्त से ही किया जाता है।

परार्थानुमान में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन—ये पाँच जो न्याय के अङ्ग बताये गये हैं, उनमें दृष्टान्त ही अनुमान का जीवन है। यदि बुद्धिमान् मनुष्य हो, तो एक दृष्टान्त से ही वस्तु-तत्त्व का ज्ञान अच्छी तरह कर सकता है। इन पाँच अवयवों को प्रायः सभी दर्शनकार मानते हैं। उदाहरण के अतिरिक्त और अवयवों के मानने में मतभेद होने पर भी उदाहरण को सब दर्शनकारों ने एक स्वर से माना है। जैसे—बौद्धों ने दो ही अवयवों को माना है—उदाहरण और निगमन। मीमांसक लोग तीन अवयव मानते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण। अद्वैत वेदान्ती भी तीन ही मानते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण; और कहीं उदाहरण, उपनय और निगमन। कोई हेतु, उदाहरण और उपनय—ये तीन अवयव मानते हैं। रामानुजाचार्य और माध्वाचार्य के मत में कोई नियम नहीं है—कहीं तो पाँचों अवयव माने गये हैं, और कहीं उदाहरण और उपनय ये दो ही। इनका कहना है, जितने अवयवों से वहाँ काम चल जाय, उतने ही अवयवों का प्रयोग करना चाहिए। परन्तु, उदाहरण की उपेक्षा किसी ने नहीं की है। इसलिए, सब अवयवों में उदाहरण ही प्रधान अवयव माना जाता है।

परन्तु, उदाहरण भी बुद्धि पर तभी शीघ्र आरूढ होता है, जब सात पदार्थों का पूर्णतया विवेक ज्ञान होता है। पदार्थों के यथार्थ ज्ञान होने पर ही उदाहरणमूलक अनुमान से उन पदार्थों का ज्ञान सुलभ हो जाता है, जो मोक्ष-प्राप्ति के लिए अवश्य ज्ञातव्य हैं। इसलिए, पदार्थों का विवेचन करना अत्यन्त आवश्यक होता है। नैयायिकों के मत में सोलह पदार्थ माने गये हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह-स्थान। यद्यपि इनका अन्तर्भाव उक्त सात पदार्थों में ही हो जाता है, और नैयायिकों का यह अभिमत भी है, तथापि मोक्ष के साधनीभूत जो तत्त्व-ज्ञान हैं, उनके लिए सोलहों का पृथक्-पृथक् निर्देश करना नैयायिकों ने उचित ही समझा है।

तात्पर्य यह है कि इनके मत में आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति को ही मोक्ष माना गया है और दुःख का कारण प्रेत्यभाव है। पुनः-पुनः गर्भवास और जन्म लेना ही 'प्रेत्यभाव' कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, जन्म-मरण का जो चक्कर है, वही 'प्रेत्यभाव' है। प्रेत्यभाव का कारण प्रवृत्ति है। सुख-दुःख के उपभोगरूप फल जिससे उत्पन्न होता है, वही प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति का कारण दोष है। मनोगत राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, लोभ आदि को ही 'दोष' कहते हैं और दोष का कारण मिथ्याज्ञान है। मिथ्याज्ञान की निवृत्ति शरीर, इन्द्रियादि से व्यतिरिक्त आत्मतत्त्व के यथार्थ ज्ञान से ही होती है। इस प्रकार आत्म-ज्ञान के उपयोगी आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग-रूप जो प्रमेय हैं, उनके ज्ञान के लिए उक्त प्रमेयों का निर्देश करना अत्यावश्यक है। प्रमेयों का यथार्थ ज्ञान ही प्रमाण का मुख्य प्रयोजन है। इसलिए, प्रमाण का भी निर्देश करना आवश्यक है। प्रमाणों में भी

अनुमान ही 'जिसका जीवन दृष्टान्त है'—सिद्धान्त के अनुसार सूक्ष्म तत्त्व के बोध कराने में समर्थ होता है। इसमें भी संशय के निराकरण के लिए तर्क की आवश्यकता है। पक्ष-प्रतिपक्ष-परिग्रह-रूप वाद के विना निर्णय भी दृढ़ नहीं होता— 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः'—अतः वादान्त पदार्थों का निर्णय आवश्यक है।

इसके अलावा जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह-स्थान, इनका भी तत्त्व-विचार-रूप कथा में प्रयोग करना दोष माना गया है, अतएव इसके लिए स्वरूप-ज्ञान आवश्यक है। इससे सिद्ध होता है कि सूत्रकार ने जितने पदार्थ लिखे हैं, वे सब मोक्ष में उपयोगी हैं।

एक बात और भी जान लेनी चाहिए कि वाद में छल आदि का प्रयोग स्वयं न करे, यदि वादी प्रयोग करे, तो मध्यस्थ को ज्ञात करा देना चाहिए। यदि वादी प्रतिनिविष्ट मूर्ख हो, तो चुप रहना अच्छा है, अथवा मध्यस्थ की अनुमति से छात्र आदि के द्वारा भी इसे परास्त करना चाहिए, इसलिए कि मूर्ख को ही विजयी समझकर उसके मत में लोग न चले जायँ।

## चार्वाक आदि के मत से तत्त्व-विचार

केवल एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माननेवाले चार्वाकों के मत में पृथिवी, जल, तेज और वायु ये ही चार तत्त्व माने जाते हैं। इन्हीं चार तत्त्वों के जो परमाणु हैं, वे ही जगत् के मूल कारण हैं, ऐसी इनकी मान्यता है। बौद्धों में जो माध्यमिक हैं, उनके मत में एक शून्य को ही मूल-तत्त्व माना गया है। योगाचार-मतवाले एक विज्ञान-स्कन्ध को ही मूल तत्त्व मानते हैं। सौत्रान्तिक और वैभाषिक के मत में दो तत्त्व माने जाते हैं—एक आभ्यन्तर दूसरा बाह्य। रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार ये पाँच स्कन्ध आन्तर तत्त्व कहे जाते हैं। पृथिवी, जल आदि चार भूतों के परमाणु को बाह्य-तत्त्व माना गया है। इनके अतिरिक्त भी इनके मत में चार तत्त्व (सत्य) हैं— समुदाय-सत्य, निरोध-सत्य, दुःख-सत्य और मार्ग-सत्य। ये सब उत्पत्तिशील हैं, इस प्रकार का ज्ञान समुदाय-सत्य है। सब क्षणिकवादी इस ज्ञान को निरोध-सत्य कहते हैं। सब शून्य हैं, इस ज्ञान को दुःख-सत्य और सब निरात्मक है, इस ज्ञान को मार्ग-सत्य कहते हैं। इन चारों की संज्ञा आर्य-सत्य भी है।

जैनों के मत में संक्षेप से दो ही तत्त्व माने गये हैं—एक जीव, दूसरा अजीव। इन्हीं दो के प्रपञ्च-रूप पाँच तत्त्व और भी हैं—जीव, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल। इनके अतिरिक्त—जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध और मोक्ष, इन सात तत्त्वों को भी ये लोग मानते हैं।

## रामानुजाचार्य के मत में तत्त्व

रामानुजाचार्य के मत में सकल पदार्थ-समूह, प्रमाण और प्रमेय के भेद से दो प्रकार का माना गया है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण हैं। प्रमेय भी तीन प्रकार के होते हैं—द्रव्य, गुण और सामान्य। द्रव्य छह प्रकार के माने जाते हैं—ईश्वर, जीव, नित्यविभूति, ज्ञान, प्रकृति और काल। त्रिगुणात्मक

प्रधान को ही प्रकृति कहते हैं। गुण दस प्रकार के होते हैं—सत्त्व, रज, तम, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग और शक्ति। द्रव्य-गुण, एतदुभयात्मक ही सामान्य है। इनके मत में ईश्वर भी पाँच प्रकार के हैं—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार। वैकुण्ठवासी नारायण, जिनको मुक्त लोग प्राप्त करते हैं, को 'पर' कहा जाता है। 'व्यूह' भी चार प्रकार का है—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। एक ही परमात्मा के चार भेद जगत् की उत्पत्त्यादि व्यवस्था और उपासना के लिए कल्पित हैं। ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेज, इन छह गुणों से परिपूर्ण वासुदेव को माना जाता है। संकर्षण में ज्ञान और बल दो ही गुण हैं। ऐश्वर्य और वीर्य, दो गुण प्रद्युम्न में प्रधान हैं। शक्ति और तेज ये दो गुण अनिरुद्ध में प्रधान हैं। मत्स्य, कूर्मादि अवतार का नाम 'विभव' है।

'अन्तर्यामी' उसको कहते हैं, जो सकल जीवों के हृदय-प्रदेश में सदा विद्यमान रहता है, जो जीवों का नियमन करने से नियन्ता भी कहा जाता है और जिसका साक्षात्कार योगीजन समाधि-काल में करते हैं। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति'—यह गीता-वाक्य 'य आत्मनि अन्तस्तिष्ठन् अन्तर्यमयति' इत्यादि उपनिषद्-वाक्य और 'यदालोक्याह्लादं ह्रद इव निमज्ज्यामृतमये' दधत्यन्तस्तत्त्वं किमपि यमिनस्तत्किल भवान्' इत्यादि शिवमहिम्न-श्लोक भी इसी परम तत्त्व का निर्देश करते हैं।

मन्त्र द्वारा प्रतिष्ठित और पूजित देवालयों की प्रतिमाओं का नाम 'अर्चावतार' है। जीव ईश्वर के परतन्त्र है, प्रतिशरीर में वह भिन्न और नित्य है। यह जीव तीन प्रकार का होता है—बद्ध, मुक्त और नित्य। संसारी जीव को 'बद्ध' कहते हैं। नारायण की उपासना से जो वैकुण्ठ चले गये हैं, उनको 'मुक्त' कहते हैं। संसार से जिसका कभी स्पर्श न हो, उसको 'नित्य' कहते हैं। जैसे—अनन्त, गरुड आदि। वैकुण्ठ-लोक को नित्यविभूति कहते हैं। स्वप्रकाश और चेतनात्मिका जो बुद्धि है, उसी को ज्ञान कहते हैं। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंवाली जो प्रकृति है, वही चतुर्विंशतितत्त्वात्मिका भी है। पञ्चतन्मात्र, पञ्चभूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और पञ्च कर्मेन्द्रिय, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार और मन—ये ही चौबीस तत्त्व हैं। काल विभु और जड है। सत्त्व आदि जो दस गुण हैं, वे द्रव्य के ही आश्रित हैं। सत्त्व दो प्रकार का है—शुद्ध और मिश्र। शुद्ध सत्त्व नित्य-विभूति और मिश्र प्रकृति में रहता है। सत्व रजोगुण और तमोगुण से संपृक्त है, अतएव वह 'मिश्र' कहा जाता है। राग और लोभ का कारणीभूत जो गुण है, वह रज है। मोह, प्रमाद और आलस्य का जो कारण है, वही तम है। पाँचो भूत में वर्त्तमान जो गुण है, वही शब्द है। स्पर्श, रूप, रस और गन्ध प्रसिद्ध गुण हैं। छह द्रव्यों में रहनेवाला जो सामान्य है, वही संयोग है। यह अनित्य और अव्याप्य वृत्ति है।

सब कारणों के कारणत्व का जो निर्वाहक है, वही शक्ति है। यह छह द्रव्यों में रहनेवाला सामान्य गुण है। धर्मभूत ज्ञान, प्रभा और शुद्ध सत्त्व इन तीनों को द्रव्य और गुण भी कहते हैं। द्रव्य के आश्रित होने से गुण कहते हैं, और सङ्कोच-विकासशील होने से द्रव्य भी कहते हैं। इस प्रकार, संक्षेप में रामानुजाचार्य के मत से पदार्थों का दिग्दर्शन कराया गया है। विशेष जिज्ञासुओं को रामानुज-दर्शन देखना चाहिए।

## माध्व-मत से पदार्थ-विवेचन

माध्व-मत में दस पदार्थ माने गये हैं, जैसे—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव। इनके मत में द्रव्य बीस प्रकार के होते हैं—परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृताकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्त्व, अहङ्कार-तत्त्व, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, गुरुत्व, लघुत्व, मृदुत्व, काठिन्य, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, आलोक, शम, दम, कृपा, तितिक्षा, बल, भय, लज्जा, गाम्भीर्य, सौन्दर्य, धैर्य्य, स्थैर्य्य, शौर्य्य, औदार्य्य आदि अनेक प्रकार के गुण इनके 'पदार्थ-संग्रह' आदि ग्रन्थों में पाये जाते हैं।

विहित, निषिद्ध और उदासीन—ये तीन प्रकार के कर्म हैं। नित्य और अनित्य के भेद से दो प्रकार के सामान्य हैं। भेद के नहीं रहने पर भी भेद-व्यवहार का निर्वाह करानेवाला विशेष है। इनके मत में समवाय नहीं माना जाता। विशेषण के सम्बन्ध से जो विशेष्य का आकार होता है, उसी का नाम विशिष्ट है। हाथ आदि परिमापी से नापा हुआ वस्त्र और आकाश को अंशी कहते हैं। शक्ति चार प्रकार की होती है—अचिन्त्यशक्ति, आधेयशक्ति, सहजशक्ति और पदशक्ति। एकनिरूपित अपर में रहनेवाले धर्म का नाम सादृश्य है। यह दो में रहनेवाला द्विष्ठ धर्म नहीं है। अभाव चार प्रकार का है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव। दिशा को अव्याकृताकाश कहते हैं। यह सृष्टि और प्रलय में भी विकार-रहित नित्य है और भूताकाश से भिन्न है। ब्रह्माण्ड का जो उपादान है, वही प्रकृति है। सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणों के समुदाय का नाम गुणत्रय है। यही गुणत्रय, जिसका साक्षात् उपादान हो, महत्तत्त्व है। उस महत्तत्त्व का कार्य अहङ्कार है। बुद्धि दो प्रकार की है—तत्त्वरूपा और ज्ञानरूपा। यहाँ तत्त्वरूप बुद्धि को द्रव्य माना गया है। मन भी दो प्रकार का है—एक, तत्त्वरूप; दूसरा, अतत्त्वरूप। वैकारिक अहङ्कार से उत्पन्न होनेवाला मन तत्त्वरूप है, दूसरा इन्द्रिय है। तत्त्वरूप मन पाँच प्रकार का है—मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त और चेतना। इन्द्रियाँ प्रसिद्ध हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को मात्रा या तन्मात्रा कहते हैं। इन्हीं का नाम विषय भी है। इन्हीं तन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी की उत्पत्ति होती है। ये ही पंचभूत हैं। इन्हीं पंचभूतों का का कार्य सकल ब्रह्माण्ड है।

अविद्या के पाँच भेद हैं—मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र और व्यामोह। अन्य प्रकार के भी चार भेद हैं—जीवाच्छादिका, परमाच्छादिका, शैवला और माया। सब अविद्या जीव के ही आश्रित हैं। आदि से अन्त तक इक्यावन वर्ण हैं। अन्धकार प्रसिद्ध ही है। वैशेषिकों की तरह तेज का अभाव-रूप अन्धकार नहीं है। स्वप्न के उपादान का नाम वासना है। आयुष्य का व्यवस्थापक काल है। जो बिम्ब के बिना

न रहे और बिम्ब के सदृश हो, वह प्रतिबिम्ब है। दोष से भिन्न गुण होता है। इनके मत में रूप आदि के लक्षण और अवान्तर भेद प्रायः नैयायिकों के समान ही होते हैं। परिमाण तीन प्रकार का है—अणु, मध्यम और महत्। इन दोनों का संयोग एक नहीं है, किन्तु भिन्न प्रकार का है। यथा—घटनिरूपित संयोग पट में और पटनिरूपित संयोग घट में। ये दोनों संयोग भिन्न हैं। वेग के हेतुभूत गुण का नाम लघुत्व है; मृदुता को मृदुत्व कहते हैं। काठिन्य कड़ापन नहीं है, किन्तु यह एक भिन्न गुण ही है; क्योंकि सम्बन्धिद्वय की प्रतीति के विना भी काठिन्य की प्रतीति होती है। अन्योन्याभाव का ही नाम पृथक्त्व है। ध्वनि को शब्द कहते हैं। यह पंचभूतों का गुण है। ज्ञान का ही नाम बुद्धि है। अनुभव तीन प्रकार का है—प्रत्यक्ष, अनुमिति और शाब्द। बुद्धि से प्रयत्न-पर्यन्त तत्त्व मन के ही धर्म हैं, और वे अनित्य भी हैं। संस्कार चार प्रकार का होता है—वेग, भावना, योग्यता और स्थिति-स्थापक। प्रकाश का ही नाम आलोक है। बुद्धि की भगवन्निष्ठता, अर्थात् भगवान् में ही बुद्धि को लगा देना 'शम' है। इन्द्रियों का निग्रह करना 'दम' है। दयाको ही 'कृपा' कहते हैं। सुख-दुःख-द्वन्द्वसहिष्णुता का नाम 'तितिक्षा' है। दूसरे की अपेक्षा के विना कार्य के अनुकूल जो गुण है, उसी को 'बल' कहते हैं। भय आदि प्रसिद्ध ही हैं। प्रभृति शब्द से सत्य, शौच आदि को समझना चाहिए। उत्क्षेपण आदि चलनात्मक कर्म हैं। मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्व आदि को सामान्य कहते हैं। यह प्रतिव्यक्ति भिन्न और अनित्य है; क्योंकि व्यक्ति के साथ ही यह उत्पन्न और विनष्ट होता है। और, व्यक्ति के विद्यमान रहते भी सुरापान आदि से ब्राह्मणत्व आदि का नाश होना प्रसिद्ध है। इसके अलावा विश्वामित्र में तप के प्रभाव से ब्राह्मणत्व आ गया, यह भी प्रसिद्ध ही है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि सामान्य अनित्य है। माध्व-मत में भी जीवत्व-सामान्य नित्य माना जाता है; क्योंकि जीव नित्य है। सामान्य दो प्रकार का होता है—एक, जातिरूप; दूसरा, उपाधिरूप। सर्वज्ञत्व, प्रमेयत्व आदि जो सामान्य है, वह उपाधि-रूप है। ईश्वर नित्य है, इसलिए इसमें रहनेवाला सर्वज्ञत्व भी नित्य है। और, घट-पटादि में रहनेवाला प्रमेयत्व अनित्य है; क्योंकि घट-पदादि अनित्य हैं।

सकल पदार्थ में रहनेवाला विशेष भी नित्य और अनित्य दोनों प्रकार का है। ईश्वर आदि नित्य पदार्थों में रहनेवाला नित्य और घटादि अनित्य पदार्थों में रहनेवाला अनित्य है। विशिष्ट भी नित्य और अनित्य दो प्रकार का है। सर्वज्ञत्व आदि विशेषण विशिष्ट परब्रह्म आदि-रूप नित्य हैं, और दण्डादि विशेषण विशिष्ट दण्डी आदि अनित्य हैं। अवयव का नाम अंश है, और तद्विशिष्ट अवयवी अंशी है। जैसे, पट और आकाश आदि। वह अवयव-तन्तु से भिन्न और हाथ आदि से परिमित, अर्थात् नापा हुआ है। उक्त अवयव से विशिष्ट ही अवयवी तन्तु से उत्पन्न होता है। आकाश आदि के जो अवयव हैं, वे अनारम्भक हैं; अर्थात् वे किसी को उत्पन्न नहीं करते। आकाश भी सावयव है, इसीलिए इस आकाश-भाग में पक्षी उड़ते हैं, अन्यत्र नहीं, इस प्रकार की व्यवस्था उपपन्न होती है। परमेश्वर में सम्पूर्ण शक्ति है। इससे भिन्न स्थल में शक्ति अपने आश्रय के अनुसार है; प्रतिमा आदि में मन्त्रों से अधिष्ठित

होने के कारण आधेयशक्ति है। स्वभाव सहजशक्ति है। पदों में वाच्य-वाचक सम्बन्ध-शक्ति है। जीवों का सादृश्य नित्य है और घट आदि का अनित्य। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव—ये तीन अभाव धर्मी से भिन्न हैं। अन्योन्याभाव धर्मी-स्वरूप ही है। नित्यात्मक अभाव नित्य और अनित्यात्मक अनित्य है। शशशृङ्ग का अभाव अत्यन्ताभाव और नित्य है। घट आदि का अभाव उसका प्रागभाव-स्वरूप है; इसके अतिरिक्त कुछ नहीं।

## माहेश्वर आदि के मत में तत्त्व-विचार

माहेश्वरों में नकुलीश पाशुपत दर्शन के अनुसार पाँच पदार्थ माने गये हैं। जैसे—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त। इसमें कार्य अस्वतन्त्र है। विद्या, कला और पशु के भेद से तीन प्रकार का है। विद्या जीव का गुण है। अचेतन वस्तु का नाम 'कला' है। वह कार्य और कारण के भेद से दो प्रकार का है। पाँच भूत और पाँच उनके गुण, ये दस प्रकार के कार्य होते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और तीन अन्तःकरण—ये तेरह कारण कहे जाते हैं। स्वतन्त्र कारण परमेश्वर है। आत्मा का ईश्वर के साथ सम्बन्ध ही योग है। धर्म और अर्थ के साधक को विधि कहते हैं। दुःखान्त मोक्ष का नाम है।

शैवों के मत में पति, पशु और पाश तीन पदार्थ माने गये हैं। पति शिव है और पशु जीव। पाश चार प्रकार का होता है—मल, कर्म, माया और रोध-शक्ति।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में जीवात्मा और परमात्मा को एक ही माना गया है, और सब जड-वर्ग पूर्ववत् हैं। परन्तु, जड आत्मा से भिन्न और अभिन्न दोनों माना जाता है। और सब नकुलीश पाशुपत दर्शन के ही समान हैं। रसेश्वर दर्शन में कार्य-कारण आदि पाँच पदार्थ हैं, वे सब नकुलीश पाशुपत दर्शन के समान हैं। मीमांसक लोगों ने पदार्थों के बारे में मुख्यतया कोई विचार नहीं किया है। क्योंकि, मीमांसाशास्त्र का मुख्य ध्येय वाक्यार्थ-विचार है। इसलिए, वाक्यार्थ का ही इसमें विचार किया गया है। फिर भी, समवाय आदि कतिपय पदार्थों के खण्डन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि शेष विषयों में वैशेषिकों के मत का ही आदर किया गया है। 'अनिषिद्ध-मप्यनुमितं भवति' इस न्याय से भी यही सिद्ध होता है।

पाणिनीयों के विषय में भी यही बात है। व्याकरणशास्त्र शब्दार्थ-विचार में ही प्रधान माना जाता है। फिर भी, अद्वैत वेदान्त के अनुसार ही इनका सिद्धान्त है।

सांख्यों के मत में भी चार प्रकार के तत्त्व माने गये हैं—(१) प्रकृति-मात्ररूप, (२) प्रकृति-विकृति-उभयरूप, (३) केवल विकृतिरूप और (४) अनुभयरूप। अर्थात्, प्रकृति-विकृति दोनों से भिन्न। त्रिगुणात्मक-प्रधान ( मूल प्रकृति ) को प्रकृति-मात्ररूप कहते हैं। महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र—ये प्रकृति-विकृति-उभयरूप हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच भूत और मन ये सोलह पदार्थ केवल विकृतिमात्र-रूप हैं। इन दोनों के अतिरिक्त पुरुष अनुभय-रूप है। इसी बात को सांख्य-कारिका में लिखा है—

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारः न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥'

पातञ्जलों के मत में भी प्रायः ये ही सब पदार्थ माने गये हैं। केवल एक ईश्वर इनके मत में अधिक माना गया है। ईश्वर के विषय में इनका सूत्र है—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।'

## अद्वैत-मत में तत्त्व-विचार

अद्वैत वेदान्तियों के मत से परमार्थ में दृक्-रूप एक ही पदार्थ या तत्त्व है। इसी को द्रष्टा कहते हैं। इनके मत में द्वैत का भान अनादि अविद्या से परिकल्पित है। तदनुसार द्रष्टा और दृश्य दो पदार्थ होते हैं। उपाधि-भेद से द्रष्टा के तीन रूप होते हैं— ईश्वर, जीव और साक्षी। कारणीभूत-अज्ञान उपाधि से युक्त होने के कारण ईश्वर कहा जाता है। ईश्वर भी तीन प्रकार का है—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। अन्तःकरण और उसके संस्कार से युक्त जो अज्ञान है, उस अज्ञान-रूप उपाधि से युक्त होने के कारण 'जीव' कहा जाता है। ईश्वर और जीव ये दोनों, उक्त अपनी उपाधि से युक्त हैं। जो केवल उपाधि से रहित है, उसको 'साक्षी' कहते हैं। प्रपंच का नाम दृश्य है। दृश्य भी तीन प्रकार का होता है। अव्याकृत, मूर्त्त और अमूर्त्त। अविद्या, अविद्या के साथ चित् का सम्बन्ध, अविद्या में चित् का आभास और जीव-ईश्वर का विभाग—ये चार अव्याकृत कहे जाते हैं। अविद्या से उत्पन्न शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच सूक्ष्मभूत और अविद्या से ही उत्पन्न अन्धकार ये अमूर्त्त कहे जाते हैं। क्योंकि, पञ्चीकरण से पहले इन सूक्ष्म भूतों की मूर्त्तावस्था असम्भव है। अन्धकार भी अमूर्त्त ही है।

अमूर्त्त अवस्थावाले इन सूक्ष्म भूतों के सात्त्विक अंश से एक-एक ज्ञानेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। और, सब सात्त्विक अंश मिलकर मन को उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार, उसी अव्यक्तावस्था में प्रत्येक के राजस अंश से एक-एक कर्मेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। सम्मिलित राजस अंशों से प्राण की उत्पत्ति होती है। उसके बाद भूतों का पञ्चीकरण होता है। पाँच भूतों के परस्पर सम्मिश्रण का नाम पञ्चीकरण है। पञ्चीकरण से ही मूर्त्तावस्था होती है। इस प्रकार समस्त भौतिक भूमण्डल उत्पन्न होता है।

## अन्धकार आदि के विषय में मतभेद

नैयायिक और वैशेषिक अन्धकार को भावरूप पदार्थ नहीं मानते हैं। इनका कहना है कि तेज का अभाव-स्वरूप ही तम है, दूसरा कोई पदार्थ नहीं। 'नीलं तमश्चलति' यहाँ नील-रूप और चलन-क्रिया की प्रतीति होती है, वह केवल भ्रम-रूप ही है। इसीलिए दीपिकाकार ने तम का लक्षण अभावात्मक ही किया है— 'प्रौढप्रकाशकस्तेजः सामान्याभावस्तमः', अर्थात् अत्यन्त प्रकाशक जो तेज है, उसका अभाव-स्वरूप ही तम है। वह अतिरिक्त कोई भावरूप पदार्थ नहीं है। मीमांसक भी

तम को यद्यपि अभाव-स्वरूप ही मानते हैं, तथापि वैशेषिकों के मत से इनमें यही विशेषता है कि ये तेज के अभाव-रूप तम को नहीं मानते, किन्तु तेजोज्ञान के अभाव-स्वरूप तम को मानते हैं। इनका कहना है—'आलोकज्ञानविरहस्तमसो लक्षणं मतम्', अर्थात् आलोक-ज्ञान का अभाव ही तम है। मीमांसकों में कुमारिलभट्ट के मतानुयायी कुछ लोग तम को भी द्रव्य मानते हैं। इनके विषय में एक प्राचीन श्लोक है—

'छायायास्तमसश्चापि सम्बन्धाद्गुणकर्मणोः।
द्रव्यत्वं केचिदिच्छन्ति मीमांसकमताश्रयाः॥'

अर्थात्, कोई-कोई मीमांसक-मतानुयायी, गुण और कर्म के सम्बन्ध होने के कारण, छाया और तम को भी द्रव्य मानते हैं। श्रीधराचार्य के मत में भी तम को द्रव्य माना गया है, परन्तु वे नील-रूप को आरोपित मानते हैं। वेदान्तियों के मत में भी तम को द्रव्य ही माना गया है। वेदान्तियों में केवल रामानुजाचार्य के मत में तम का पृथिवी में अन्तर्भाव माना गया है। परन्तु, माध्व और अद्वैत वेदान्ती तम को स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं।

नैयायिकों और वैशेषिकों के मत में दिक् को स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है। रामानुजाचार्य, पाणिनीय और अद्वैत वेदान्ती—इन लोगों के मत में दिक् का आकाश में अन्तर्भाव माना गया है। माध्व लोग अव्याकृत आकाश-स्वरूप दिक् को मानते हैं। नैयायिक, वैशेषिक, रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य और माहेश्वर—इन लोगों के मत में काल को स्वतन्त्र द्रव्य माना जाता है। चार्वाक, बौद्ध, सांख्य और पातञ्जल के मत में काल को नहीं माना जाता। अद्वैत वेदान्तियों के मत में अविद्या में ही काल का अन्तर्भाव माना गया है। समवाय को केवल नैयायिक और वैशेषिक ही मानते हैं। इनसे भिन्न चार्वाक से लेकर अद्वैत वेदान्ती-पर्यन्त किसी दार्शनिक ने भी समवाय को पदार्थ नहीं माना है। रामानुजाचार्य वैशेषिक शास्त्र में बताये गये गुणों में बहुत गुणों का अन्यत्र अन्तर्भाव मानते हैं। जैसे—संख्या को संख्येय द्रव्य में ही अन्तर्भूत माना गया है, संख्येय के अतिरिक्त इनके मत में संख्या नाम का गुण नहीं माना जाता। और, संयोगाभाव से भिन्न कोई पृथक्त्व भी नहीं माना जाता। विभाग भी संयोगनाश का ही नाम है। देश और काल के संयोग-विशेष का ही नाम परत्व और अपरत्व है, भिन्न कोई गुण नहीं। गुरुत्व-शक्ति विशेष रूप ही है, और द्रवत्व भी द्रवद्रव्य-स्वरूप के अतिरिक्त कोई पृथक् गुण नहीं है। स्नेह भी आश्रय का स्वरूप-विशेष ही है। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ये सब उपाधिविशेष से युक्त बुद्धि के ही नाम हैं।

ईश्वरनिष्ठ जो ज्ञानविशेष है, उसी को धर्म माना गया है। इसी प्रकार, संयोगविशेष को ही चलनात्मक कर्म माना जाता है। और, अवयव-संस्थान-विशेष को ही 'सामान्य' कहा जाता है। नैयायिक, वैशेषिक और माध्व लोग भाव के अतिरिक्त अभाव को पदार्थ मानते हैं। मीमांसक, रामानुजाचार्य और अद्वैत वेदान्ती के मत में अभाव को अधिकरण-स्वरूप ही माना जाता है।

यहाँ तक मूलतत्त्व और उसके विकारभूत पदार्थों के विषय में विचार संक्षेप में किया गया। मूलतत्त्व के ज्ञान से मोक्ष होता है, यह पहले ही कह चुके हैं। अब विकार-ज्ञान से बन्ध होता है, और बन्ध क्या है? इस पर विचार किया जायगा। यहाँ बन्ध से संसार-बन्ध ही लिया जाता है।

## बन्ध

संसार में आबालवृद्ध प्रत्येक प्राणी में सुख, दुःख और मोह का अनुभव सदा देखा जाता है। यहाँ सुख, दुःख और मोह क्या है? इस विषय में सांख्य और पातञ्जल के मत में पदार्थ ही सुख-दुःख-मोह-स्वरूप है, ऐसा माना जाता है। सब पदार्थों में दुःख, सुख और मोह सदा वर्त्तमान रहते हैं। क्योंकि, सब पदार्थ त्रिगुणात्मक ही हैं। जब भोक्ता पुरुषों के शुभकर्म का उदय होता है, उस समय शुभ कर्म के संस्कार का भी प्रादुर्भाव होता है। उसी से पदार्थ में रहनेवाला जो सुख-रूप गुण है, वह दुःख और मोह को अभिभूत कर प्रादुर्भूत होता है। उसी प्रकार अशुभ कर्मों के उदय होने से दुःख-रूप जो पदार्थगत गुण है, वह सुख और मोह को परास्त कर प्रादुर्भूत होता है। शुभ, अशुभ इन दोनों कर्मों के उदय न होने से मोह-रूपी गुण प्रकट होता है। यही सुख, दुःख और मोहात्मक संसार 'बन्ध' माना गया है। वेदान्तियों के मत में पदार्थों को सुख-दुःख-मोहात्मक नहीं माना गया है। इनका कहना है कि पदार्थ सुख-दुःख-मोह-रूप नहीं हैं; किन्तु सुख, दुःख और मोह के प्रयोजक हैं। सुख, दुःख और मोह तो मन की वृत्तिविशेष का ही नाम है। वही वृत्तिविशेष पूर्वार्जित कर्मजन्य संस्कार से, पदार्थों के ज्ञान से, सुख, दुःख और मोह-रूप में आविर्भूत और तिरोभुत होती रहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि पदार्थ का ज्ञान ही सुख-दुःख आदि का प्रधान साधन है।

## प्रामाण्यवाद

सुख, दुःख आदि का साधनीभूत जो ज्ञान है, वह दो प्रकार का होता है— पहला, प्रामाण्य; दूसरा, अप्रामाण्य। प्रामाण्य और अप्रामाण्य के विषय में प्रायः सब दर्शनकारों में मतभेद रहता है। यहाँ यही प्रश्न उठता है कि प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वतः है, अथवा परतः? यहाँ नैयायिक, वैशेषिक और बौद्ध—इन लोगों के मत में प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों परतः मानी जाती है। मीमांसकों और वेदान्तियों का कहना है कि प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वतः है, परतः नहीं। अप्रामाण्य की उत्पत्ति प्रायः सब दर्शनकारों ने परतः मानी है। केवल बौद्धों के मत में अप्रामाण्य की उत्पत्ति भी स्वतः मानी जाती है। और सांख्यों के मत में अप्रामाण्य की ज्ञप्ति स्वतः होती है। जैनों का कहना है कि प्रामाण्य या अप्रामाण्य दोनों की उत्पत्ति परतः होती है, किन्तु ज्ञप्ति अभ्यस्त स्थल में स्वतः और अनभ्यस्त स्थल में परतः होती है। इतना ही इनके मत में भेद है। अब यहाँ एक बात और जानने योग्य है कि बन्ध का साधनीभूत जो पदार्थ-ज्ञान है, वह चाहे प्रमाण हो या अप्रमाण, दोनों ही बन्ध के साधन में उपयोगी होते हैं। इसलिए, इसमें कोई भेद नहीं है; क्योंकि दोनों का फल बन्ध ही है।

परन्तु, मोक्ष का साधनीभूत जो तत्त्व-ज्ञान है, वह प्रमाण होने पर ही मोक्ष का साधक होता है, अप्रमाण होने पर नहीं।

## मोक्ष

मोक्ष का स्वरूप किसके मत में कैसा है, यह दिखाया जाता है। चार्वाकों के मत में स्वातन्त्र्य अथवा मृत्यु को ही 'मोक्ष' कहते हैं। बौद्धों में शून्यवादी माध्यमिकों के मत में आत्मा का सर्वथा उच्छेद ही 'मोक्ष' माना जाता है। इनके अतिरिक्त योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक के मत में निर्मल ज्ञान का जो उदय है, उसी को 'मोक्ष' माना जाता है। जैनों का कहना है कि कर्म से सम्पादित जो देह-स्वरूप आवरण है, उसके अभाव में आत्मा का जो सतत ऊर्ध्वगमन है, वही 'मोक्ष' है। रामानुजाचार्य का मत है कि सर्वकर्त्तृत्व से भिन्न जो परमात्मा के सर्वज्ञत्व आदि गुण हैं, उनकी प्राप्ति और भगवत्स्वरूप का यथार्थ अनुभव होना ही 'मोक्ष' है। इनका मत है कि मुक्तात्मा में भगवान् के सब गुण चले आते हैं, केवल सर्वकर्त्तृत्व गुण नहीं आता। माध्वाचार्य के मत में सर्वकर्त्तृत्व, लक्ष्मीपतित्व और श्रीवत्स-प्राप्ति—इन तीन गुणों से रहित दुःख से अमिश्रित पूर्ण सुख का नाम ही 'मोक्ष' है। परम ऐश्वर्य की प्राप्ति ही 'मोक्ष' है, ऐसा नकुलीश पाशुपतों का मत है। शैवों के मत में शिवत्व-प्राप्ति ही 'मोक्ष' है। प्रत्यभिज्ञावादियों के मत में पूर्णात्मता का लाभ ही 'मोक्ष' है। रसेश्वरवादी पारद रस आदि से देह के स्थैर्य को ही 'मोक्ष' मानते हैं। यही इनके मत में जीवन्मुक्ति है। अशेष गुणों का उच्छेद ही 'मोक्ष' है, यह वैशेषिकों का मत है। नैयायिकों के मत में आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति को ही 'मोक्ष' माना जाता है। नैयायिकों में कुछ एकदेशियों का कहना है कि मुक्ति में आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति ही नहीं होती, किन्तु सुख की उपलब्धि भी होती है। मीमांसकों के मत में स्वर्ग की प्राप्ति ही 'मोक्ष' है। मूलाधारस्थ चक्र में वर्त्तमान जो परावाक् नाम का ब्रह्म है, उसका साक्षात्कार होना ही 'मोक्ष' है—यह पाणिनीयों का सिद्धान्त है। प्रकृति के उपरम, अर्थात् शान्त होने पर पुरुष के अपने रूप में जो अवस्थान है, वही सांख्यों का 'मोक्ष' है। कृतकृत्य होने के कारण गुणत्रय, अर्थात् सत्त्व, रज और तम पुरुषार्थ से शून्य हो जाता है, उस समय अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाता है—यही प्रकृति का लय 'मोक्ष' कहा जाता है। पातञ्जलों के मत में चिति-शक्ति का अपने स्वरूप में अवस्थान का ही नाम 'मोक्ष' है। अद्वैत वेदान्तियों के मत में मूल अज्ञान की निवृत्ति होने पर अपने स्वरूप का अधिगम, अर्थात् साक्षात्कार या प्राप्ति का ही नाम 'मोक्ष' है। यहाँ तक प्रमाण से लेकर मोक्ष-पर्यन्त प्रायः सब पदार्थों के स्वरूप का विवेचन मतभेद-प्रदर्शनपूर्वक संक्षेप में किया गया। अब दर्शन-भेद में बीज दिखाया जायगा।

## दर्शन-भेद में बीज

'दर्शन' शब्द में जो दृश् धातु है, उसका अर्थ ज्ञान-सामान्य होता है। 'दृश्यते, अनुसन्धीयते पदार्थानां मूलतत्त्वमनेन इति दर्शनम्', अर्थात् पदार्थों के मूलतत्त्व का अनुसन्धान जिसके द्वारा किया जाय, वही दर्शन है। इस व्युत्पत्ति से यह सिद्ध होता है

कि संसार में जितने जड या चेतन पदार्थ उपलब्ध होते हैं, उनके मूलतत्त्व का साक्षात्कार करने में जो शास्त्र उपयोगी होता है, उसी का नाम 'दर्शन' है। मूलतत्त्व का अनुसन्धान ही मोक्ष का परम साधन है, यह प्रायः सभी दर्शनकारों का अभिमत है। और मूलतत्त्व का अनुसन्धान केवल एक प्रमाण के द्वारा ही कर सकते हैं। प्रमाण एक नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द आदि के भेद से अनेक प्रकार के हैं। इस अवस्था में 'कारणभेदात् कार्यभेदः' अर्थात् कारण में भेद होने से कार्य भी भिन्न होता है—इस नियम के अनुसार प्रमाण में भेद होने के कारण दर्शनों में भी भेद होना स्वाभाविक हो जाता है। अब यहाँ यह सन्देह हो जाता है कि यद्यपि प्रमाणों में अनेक प्रकार के भेद हैं, तथापि दर्शनकारों का एक विशेष प्रकार के प्रमाण में ही पक्षपात क्यों हो जाता है? क्योंकि, हमलोगों-जैसे साधारण बुद्धिवालों का किसी विशेष प्रमाण में पक्षपात होने पर भी निर्मल अन्तःकरणवाले सर्वज्ञ-तुल्य महात्माओं का किसी विशेष प्रमाण में—कि यही प्रमाण तत्त्वान्वेषण में समर्थ हो सकता है, दूसरा नहीं—इस प्रकार का पक्षपात होना अनुचित प्रतीत होता है। और भी, नास्तिकों के अतिरिक्त जितने आस्तिक दर्शनकार हैं, प्रायः सब लोग मानते हैं कि मूलतत्त्व के अन्वेषण में एक श्रुति ही समर्थ है, दूसरा कोई नहीं। इस अवस्था में भी दर्शन-भेद निर्मूल हो जाता है।

इस सन्देह का उत्तर प्रमाण-विचार के प्रसंग में प्रायः दिया जा चुका है, जैसे, किसी का श्रुति में विश्वास नहीं है, किसी का मन्द विश्वास है, किसी का अमन्द। किसी का दृढ़ विश्वास है तो किसी का उससे भी दृढ़तर। इस प्रकार, विश्वास के तारतम्य से प्रमाण-विशेष में पक्षपात होना स्वाभाविक हो जाता है। अतः, प्रमाण-विशेष में श्रद्धा होने के कारण ही कोई प्रत्यक्ष को ही मूलतत्त्व के अन्वेषण में समर्थ समझ सकते हैं, कोई अनुमान को ही। कोई मूल कारण के अन्वेषण में श्रुति को ही सर्वप्रधान समझते हैं। इस प्रकार, तत्त्वानुसन्धान के साधनीभूत तीन प्रमाण मुख्य हैं—अध्यक्ष, अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। इनके भेद से दार्शनिक भी तीन प्रकार के हो जाते हैं—कोई आध्यक्षिक (जो प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानता है), कोई आनुमानिक और कोई श्रौत।

दर्शन के भेद होने में एक और भी कारण है कि जिस प्रकार आँखवालों में भी कोई दूरस्थ वस्तु को भी देख लेता है और कोई समीपस्थ वस्तु को ही देखता है, दूरस्थ को नहीं। कोई समीपस्थ को भी नहीं देखता, और अत्यन्त समीप हो जाने पर देखता है। इसी प्रकार, तर्क से भी कोई सूक्ष्म का कोई सूक्ष्मतर और कोई सूक्ष्मतम का भी ज्ञान कर लेता है। इसी प्रकार, किसी की बुद्धि श्रुति के वाच्य अर्थ को ही समझकर संतुष्ट हो जाती है, किसी की बुद्धि व्यंग्य अर्थ भी समझने के लिए चेष्टा करती है, और समझ भी जाती है, और किसी की बुद्धि निगूढ से भी निगूढ अर्थ के समझने में झटिति प्रविष्ट हो जाती है और निगूढ अर्थ को समझ भी लेती है। इस प्रकार, बुद्धि के भेद से श्रुति के तात्पर्य को समझने में भी मतिभेद होना सम्भव है। इस स्थिति में, तत्त्व के अनुसन्धान के साधनीभूत प्रमाण के एक माननेवालों में भी बुद्धि-वैचित्र्य

होने के कारण उस प्रमाण से साध्य तत्त्व के अन्वेषण में वैषम्य, अर्थात् भेद हो जाना दुर्निवार हो जाता है। इसलिए, प्रमाण भेद होने के कारण भिन्न-भिन्न जो दर्शन हैं, उनमें पुनः प्रविष्ट होकर अन्वेषण करने से पूर्वज्ञात तत्त्व से विभिन्न तत्त्व भी भासित होने लगते हैं। इसलिए, अन्विष्यमाण तत्त्व के भेद होने से दर्शन का भेद होना दुर्निवार है।

इसलिए, श्रौत और तार्किक, जो दर्शनकार हैं, उनमें विभिन्न विचारकों की विभिन्न विचार-सरणी के अनुसार पुनः-पुनः विचार करने पर एक प्रमाण माननेवालों में भी अनेक प्रकार के विभिन्न दर्शन हो गये हैं। इस प्रकार, विचार-सरणी के भेद से दर्शनों के अनेक होने पर भी सब दर्शनकारों का एक जो उद्देश्य—'आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति और आत्यन्तिक सुख-प्राप्ति'—है, वह अक्षुण्ण ही रहता है। सब दर्शनकारों के समन्वयात्मक विचार से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि केवल उद्देश्य में ही सबका ऐकमत्य नहीं है, प्रत्युत, उद्देश्य-प्राप्ति का साधन जो मूलतत्त्व का ज्ञान है, उसके विषय में भी सब दर्शनकारों का अभिप्राय एक ही प्रतीत होता है।

इस प्रकार के भेद के नियमन में जगन्नियन्ता परमात्मा की अलौकिक और अनिर्वचनीय इच्छा ही प्रतीत होती है। क्योंकि, जगत् में सब जन्तुओं की एक ही प्रकार की प्रवृत्ति हो, तब तो जिस मार्ग में जन्तुओं की प्रवृत्ति होगी, उस मार्ग की पराकाष्ठा, 'चाहे वह अच्छा हो या बुरा', सब लोग कुछ काल में प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार, जगत् का सब व्यवहार लुप्त हो जाने से सब शून्य-सा हो जायगा। इस स्थिति में, जगत् का तत्त्व ही नष्ट हो जायगा; क्योंकि मार्ग-भेद ही जगत् की स्थिरता का सम्पादन करता है। मार्ग-भेद होने का कारण यह है कि जगत् में अनेक प्रकार के जन्तु होते हैं, और एकजातीय और एकदेशीय होने पर भी 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक जन्तु की प्रवृत्ति विभिन्न प्रकार की होती रहती है। इसलिए, भिन्न-भिन्न रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार मार्ग-भेद होना स्वाभाविक हो जाता है।

परमात्मा ने अपनी अचिन्त्य शक्ति के द्वारा सबसे पहले त्रिगुणात्मक प्रकृति की रचना की है। सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों की साम्यावस्था का ही नाम प्रकृति है। और, वे तीनों गुण, प्रत्येकशः अनन्त प्रकार के होते हैं। उन अनन्त सत्त्वांशों में किसी सत्त्व-अंश का किसी रजोगुण के अंश के साथ, और किसी सत्त्वांश का किसी तमोगुण के अंश के साथ संयोग होता है। इस प्रकार, क्रमशः पञ्चभूतों को उत्पन्न कर सकल चेतन-अचेतन पदार्थों को प्रकाशित किया है। उनमें करोड़ों से अधिक व्यक्तियों में भी दो के साथ सर्वांश में समता नहीं होती। एक बात और है कि प्रवाह-रूप से निरन्तर विद्यमान जो जगत् की अवस्थिति है, और उसके साधनीभूत जो मार्ग-भेद हैं, उनमें केवल जन्तुओं का नाना प्रकार का होना ही एक कारण नहीं है। किन्तु, एकजातीय होने पर भी प्रवृत्ति का भेद होना भी एक कारण होता है। और प्रवृत्ति भी जिस प्रकार वर्ण-भेद, जाति-भेद, आश्रय-भेद से अनेक प्रकार की होती है, उसी प्रकार वह ज्ञान के भेद से भी अनेक प्रकार की होती है।

यद्यपि ज्ञान के भेद न होने पर भी विचित्र जगत् के व्यवहार का अभाव नहीं होता है; क्योंकि विचित्र प्रवृत्ति के कारणीभूत वर्ण-भेद, जाति-भेद, आश्रय-भेद आदि अनेक कारण विद्यमान रहते हैं, फिर भी जगत् का व्यवहार अनेक प्रकार का और अनियत होने के कारण, उसमें विविध प्रकार के कारणों की अपेक्षा रहती है। इसलिए, उन कारणों में ज्ञान का भेद होना भी एक कारण परमात्मा को अभिप्रेत है, यह मानना होगा।

## तत्त्वान्वेषण का उपयोग

तत्त्व ज्ञान के भेद से भी प्रवृत्ति में भेद देखा जाता है। जिस तत्त्वज्ञानी को जैसा तत्त्व भासित हुआ, उसने उसी प्रकार का दर्शन बनाया, यह प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि जगद्वैचित्र्य के मूल कारण के अनुसन्धान में प्रवृत्त, अर्थात् लगे हुए महर्षियों के ज्ञान के अनुसार जितने और जिस प्रकार के तत्त्व भासित हुए, उतने ही और उसी प्रकार के तत्त्वों का निदर्शन उन दर्शनों में किया गया है। अर्थात्, जिसको जितना और जिस प्रकार का तत्त्व अपनी बुद्धि के अनुसार भासित हुआ, उसने उसी के अनुसार अपना दर्शन बनाया। इसलिए, तत्त्वभेद भी दर्शन-भेद का ज्ञापक होता है। इससे यह प्रतीत होता है कि प्रमाण का भेद, बुद्धि का भेद और विचार-सरणी का भेद दर्शन-भेद के मुख्य कारण होते हैं। अब यहाँ सन्देह होता है कि दर्शनकारों की प्रवृत्ति तत्त्वान्वेषण के लिए क्यों होती है।

इसका उत्तर यही हो सकता है कि मनुष्य, अपनी सद्गति के लिए मन, वचन और शरीर से यथाशक्ति प्रयत्न करता रहता है, यह स्वभावसिद्ध और प्रसिद्ध भी है। सद्गति भी कम, अधिक, अच्छी, बुरी आदि भेद से अनेक प्रकार की है। और, उन सद्गतियों की जो पराकाष्ठा है, उसी को प्रत्येक दर्शनकार ने 'मोक्ष' माना है। मोक्ष का साधन सर्वतन्त्र से सिद्ध और लोक-प्रसिद्ध तत्त्वज्ञान ही है। 'तत्त्वज्ञानान्मोक्षः' सर्वसिद्धान्त है। इसलिए, तत्त्वान्वेषण के लिए ज्ञानियों की प्रवृत्ति स्वाभाविक हो जाती है।

## तत्त्वज्ञान से मोक्ष-साधन

अब तत्त्वज्ञान से मोक्ष का साधन किस प्रकार होता है, यह विचारणीय विषय है। इस विषय में यह भी जान लेना चाहिए कि मोक्ष बन्ध का प्रतिद्वन्द्वी है। चेतन के साथ अचेतन का जो सम्बन्ध है, वही बन्ध है। यद्यपि अचेतन वस्तुएँ भूत-भौतिक-शरीर आदि के भेद से अनन्त प्रकार की हैं, तथापि जीवात्मा के साथ जो शरीर का सम्बन्ध है, वही मुख्य बन्ध माना गया है। शरीर के अतिरिक्त और वस्तुओं के साथ जो जीवात्मा का सम्बन्ध है, वह शरीर के द्वारा ही है, स्वतन्त्र नहीं। इसलिए, जिस प्रकार हाथी के बिक जाने पर अंकुश के मूल्य के लिए विवाद नहीं होता, उसी प्रकार जीवात्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध छूट जाने पर, शरीर के द्वारा इतर वस्तु के साथ जो सम्बन्ध है, वह योंही नष्ट हो जाता है, उसके लिए पृथक् यत्न की कुछ अपेक्षा नहीं होती। इसलिए, चेतन जीवात्मा के साथ अचेतन शरीर का जो

सम्बन्ध है, वही बन्ध है, यह सिद्ध होता है। इसलिए, मोक्ष के अभिलाषी पुरुषों का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह जीवात्मा का शरीर के साथ सम्बन्धरूपी जो बन्ध है, उसके नाश के लिए यत्न करता रहे। क्योंकि, जबतक बन्ध का नाश नहीं होता, तबतक मोक्ष होना असम्भव है। और, बन्ध का नाश तबतक नहीं हो सकता, जबतक यह यथार्थ ज्ञान नहीं हो कि बन्ध कब हुआ, किसने बन्ध किया और बन्ध का स्वरूप क्या है। क्योंकि, प्रतिद्वन्द्वी के यथार्थ ज्ञान होने के बाद ही उसका नाश करना सुलभ होता है। इस स्थिति में सम्बन्ध कब हुआ, यह तो विचार करने की बात नहीं है; क्योंकि अगत्या सम्बन्ध को सभी दर्शनकारों ने अनादि स्वीकृत किया है। अनादि होने के कारण ही सम्बन्ध के सम्पादयिता के विषय में भी विचार नहीं किया जा सकता।

केवल विचारना यही है कि अनादि अविच्छिन्न प्रवाह-रूप से आजतक वर्त्तमान जो यह बन्ध है, इसका रक्षक कौन है, इसमें भी यही रक्षक है, इस प्रकार विशेष ज्ञान न होने पर भी रक्षक कोई अवश्य है—यह बात प्रायः सब दर्शनकारों ने स्वीकार की है। इसीका ईश्वर आदि अनेक शब्दों से व्यवहार शास्त्रकारों ने किया है। जब, बन्ध का स्वरूप कैसा है, यह विचार आरम्भ होता है, तब तो चेतन और अचेतन दोनों के मूलतत्त्व का ज्ञान करना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि, दोनों सम्बन्धियों के यथावत् यथार्थ ज्ञान हुए विना यह पदार्थ ऐसा है, इस प्रकार का निश्चय करना असम्भव हो जाता है। इस स्थिति में सम्बन्ध जिस कारण से परिरक्षित हो, उसका यथार्थ ज्ञान होने के बाद ही उस सम्बन्ध के दूर करने का उपाय जान सकते हैं। इसके लिए दूसरा कोई उपाय नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि मोक्ष-प्राप्ति का उपाय होने के कारण मूलतत्त्व का अनुसन्धान करना परमावश्यक हो जाता है।

इस प्रकार, मूलतत्त्वों का अन्वेषण करने के बाद मुमुक्षुजनों के परम उपकारी दर्शनकारों ने चार व्यूह दिखाये हैं—(१) मोक्ष, (२) उसकी प्राप्ति का उपाय, (३) बन्ध और (४) उसका निमित्त। इनमें मोक्ष का स्वरूप पहले दिखाना आवश्यक है। कारण यह है कि ज्ञान के विना इच्छा नहीं हो सकती। सामान्य ज्ञान से उत्पन्न होनेवाली इच्छा भी उस प्रकार बलवती नहीं होती, जिस प्रकार विशेष ज्ञान से उत्पन्न इच्छा बलवती होती है। विशेष ज्ञान से उत्पन्न होनेवाली वही इच्छा है, जो क्षण-भर भी विना प्रयत्न के नहीं रहने देती। मोक्ष-प्राप्ति के लिए उसका उपाय भी अवश्य ज्ञातव्य है, इसलिए उसका भी प्रदर्शन आवश्यक है। इस प्रकार, मोक्ष का प्रतिद्वन्द्वी जो बन्ध है, उसका भी यथावत् ज्ञान करना आवश्यक है। क्योंकि, बन्ध के नाश के लिए उसका स्वरूप-ज्ञान उपयोगी होता है। इसी प्रकार, बन्ध के नाश के लिए बन्ध के निमित्त का भी ज्ञान होना आवश्यक है। क्योंकि, कारण के नाश से ही कार्य का नाश सुलभ होता है—'कारणनाशात् कार्यनाशः।'

अब एक आशङ्का और होती है कि जब एक महर्षि तत्त्वों का वर्णन कर ही चुके, तब पुनः दूसरों की प्रवृत्ति तत्त्वान्वेषण में क्यों हुई ? और, उससे उपकार ही

क्या होता है ? प्रत्युत विभिन्न, तत्त्वों का वर्णन करने से बड़े-बड़े विद्वानों के चित्त में भी भ्रम हो जाना स्वाभाविक है ।

इसका उत्तर यही होता है कि 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में बुद्धि-भेद होने के कारण दूसरे के ऊपर सहसा किसी का विश्वास नहीं होता, बल्कि मानव-प्रकृति के अनुसार उससे भी अधिक सूक्ष्म तत्त्वों को प्रकाशित करना चाहता है। इसलिए, बुद्धि-भेद होने के कारण विभिन्न तत्त्वों के अनुसन्धान के लिए महात्माओं की भी प्रवृत्ति अनिवार्य है। दार्शनिकों में भी मति-भेद का मूल कारण किसी प्रमाणविशेष में उनका पक्षपात ही है, यह पहले भी लिखा जा चुका है। तात्पर्य यह है कि महर्षियों ने प्रमाण-विशेष के द्वारा ही तत्त्वों का अन्वेषण किया है।

प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, ये ही तीन मुख्य प्रमाण माने जाते हैं। आध्यक्षिक, तार्किक और श्रौत—ये तीन प्रकार के तत्त्वदर्शी दार्शनिक हुए हैं। एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माननेवाले आध्यक्षिक कहे जाते हैं। क्योंकि, अध्यक्ष प्रत्यक्ष का ही नामान्तर है। यद्यपि प्रत्यक्ष को सभी ने प्रमाण माना है, तथापि वे लोग आध्यक्षिक नहीं कहे जाते, कारण यही है कि मूलतत्त्व के अन्वेषण में चार्वाक के अतिरिक्त और किसी ने भी प्रत्यक्ष को प्रमाण नहीं माना है। किन्तु, अनुमान या शब्द-प्रमाण से ही मूलतत्त्वों का अनुसन्धान किया है। इसीलिए, तार्किकों या श्रौतों को आध्यक्षिक नहीं कहा जाता। केवल चार्वाक ही, जो केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से ही मूलतत्त्व का अन्वेषण करने की चेष्टा करते हैं, आध्यक्षिक कहे जाते हैं। जो तर्क की सहायता से मूल तत्त्व का अन्वेषण करते हैं, वे तार्किक कहे जाते हैं। तार्किक भी दो प्रकार के होते हैं—एक आस्तिक, दूसरा नास्तिक। इनमें नास्तिक लोग श्रुति का प्रमाण नहीं मानते। नास्तिकों में भी दो भेद हैं—एक ऐकान्तिक दूसरा अनैकान्तिक। एकान्त निश्चय को कहते हैं। तत्त्व को निश्चय करनेवाला ऐकान्तिक है। बुद्ध मुनि ने 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार निश्चय कर आर्यसत्य-नामक चार तत्त्वों का उपदेश किया है। इसी कारण बौद्ध लोग 'ऐकान्तिक' कहे जाते हैं। 'सर्वं शून्यं शून्यं, क्षणिकं क्षणिकं, दुःखं दुःखं, स्वलक्षणं स्वलक्षणम्'—ये ही चार प्रकार के 'आर्य-सत्य' तत्त्व हैं। यहाँ आदर के लिए द्विरुक्ति की गई है। जैन लोग 'अनैकान्तिक' कहे जाते हैं। ये लोग अनुमान के द्वारा वस्तु-तत्त्व का अन्वेषण करते हुए भी वस्तु-तत्त्व की यथार्थता का निश्चय नहीं कर सके कि 'यह तत्त्व ऐसा ही है।' यदि कोई कहे कि 'सर्वं दुःखम्', तो इनका कहना है कि 'स्यात्', अर्थात् हो सकता है। यदि कोई कहता है कि 'सर्वं सुखम्', तोभी इनका यही उत्तर होता है कि 'स्यात्', हो सकता है। यहाँ 'स्यात्' शब्द अनेकान्त अर्थात् 'अनिश्चय' का द्योतक निपात है। इसी 'स्यात्' कहने के कारण जैन लोग 'स्याद्वादी' कहे जाते हैं।

श्रुति-प्रमाण के अविरोधी जो तार्किक हैं, वे आस्तिक कहे जाते हैं। केवल इनका श्रुति की अपेक्षा अनुमान में विशेष आदर रहता है। इसका कारण पहले ही बता चुके हैं। 'आस्तिक' शब्द की परिभाषा यही मानी जाती है कि 'अस्ति इति स्थिरा मतिर्यस्य स आस्तिकः', अर्थात्, है, इस प्रकार की स्थिर धारणा जिसकी हो, वही

आस्तिक है। एक बात और ज्ञातव्य है कि जो आस्तिक तार्किक हैं, उनकी श्रद्धा श्रुति के विषय में मन्द ही रहती है। इनकी अपेक्षा भी माहेश्वरों की श्रद्धा श्रुति के विषय में अत्यन्त मन्द होती है। ये लोग नास्तिकों की तरह ऐसा नहीं कहते कि श्रुति अप्रमाण है, परन्तु उदासीन के जैसा अपने विरुद्ध श्रुति का अर्थ गौण मानकर भी अपने अनुकूल लगाने की चेष्टा नहीं करते। दूसरे शब्दों में, अपने मत के विरुद्ध श्रुति का समन्वय करने की चेष्टा भी नहीं करते। इनकी अपेक्षा नैयायिकों और वैशेषिकों की श्रद्धा श्रुति के विषय में अधिक देखी जाती है। क्योंकि, जो श्रुति इनके मत के विरुद्ध प्रतीत होती है, उसको गौणार्थ मानकर अपने सिद्धान्त के अनुसार श्रुति के अर्थ करने में इनकी प्रवृत्ति देखी जाती है। श्रुति में मन्द श्रद्धावाले तार्किक सांख्य और पातञ्जल हैं। ये लोग अनुमान से सिद्ध प्रकृति को श्रुति के अनुकूल सिद्ध करने के लिए 'अजामेकाम्' इत्यादि श्रुति को अपने पक्ष के अनुसार योजित करते हैं। नैयायिक आदि की अपेक्षा श्रुति में इनकी अधिक श्रद्धा है।

ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड के भेद से श्रुति के द्वैविध्य के कारण श्रौत भी दो प्रकार के होते हैं। कर्मकाण्ड की अधिकता और ज्ञानकाण्ड की अल्पता के कारण श्रुति का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्म ही है, ऐसा प्रतीत होता है। ज्ञानकाण्ड कर्मकाण्ड के अङ्ग होने के कारण कर्म का उपयोगी मात्र होता है। कर्मकाण्ड अङ्ग और ज्ञानकाण्ड अङ्गी, इस प्रकार की जो विपरीत कल्पना करते हैं, वह युक्त नहीं है। कारण यह है कि अङ्गी की अपेक्षा अङ्ग की अधिकता दोषावह होती है। इसलिए, यह सिद्ध होता है कि कर्मकाण्ड अधिक होने से अङ्गी और ज्ञानकाण्ड अल्प होने से अङ्ग है। इस प्रकार, ज्ञान की अपेक्षा कर्म को ही प्रधान माननेवाले श्रौत मीमांसक कहे जाते हैं। इनसे भिन्न जो वेदान्ती श्रौत हैं, वे ज्ञान की अपेक्षा कर्मकाण्ड की प्रधानता को उचित नहीं समझते। क्योंकि, मनुष्यों की बुद्धि को सन्मार्ग में प्रवृत्त करना ही श्रुतियों का प्रधान ध्येय रहता है। कर्म में तो मनुष्य-मात्र की प्रवृत्ति नैसर्गिक ही है। ज्ञान में बुद्धि को हठात् प्रवृत्त करना कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव-सा है। इसलिए जब कर्म और उपासना के द्वारा चित्त की शुद्धि हो जाती है, तभी मनुष्य ज्ञान-मार्ग का अधिकारी होता है, अन्यथा नहीं। इसलिए, कर्मरूपी अङ्ग का ज्ञान की अपेक्षा अधिक विस्तार होने पर भी कुछ दोष नहीं होता। क्योंकि, फलमुख गौरव दोषावह नहीं होता है—'फलमुखगौरवस्यादोषत्वम्' यह सर्वसिद्धान्त है।

वेदान्तियों में भी दो मत प्रचलित हैं—द्वैतवाद और अद्वैतवाद। माध्वाचार्य और रामानुचार्य द्वैतवादी हैं। रामानुजाचार्य यद्यपि चिदचिद्विशिष्ट परमात्मा को शरीर-शरीरी भाव से अद्वैत मानते हैं, तथापि जीव और परमात्मा में तथा आत्मा और अनात्मा में भेद मानने के कारण द्वैतवादी माने जाते हैं। माध्वाचार्य तो स्पष्ट द्वैतवादी हैं। शङ्कराचार्य अद्वैतवादी हैं, ये विवर्त्तवाद के आधार पर अद्वैतवाद का व्यवस्थापन करते हैं। इसी प्रकार, पुष्टिमार्ग के प्रवर्त्तक वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैत माने जाते हैं। मालूम होता है, विशिष्ट द्वैत के प्रतिद्वन्द्वी भाव से 'शुद्धाद्वैत' शब्द का प्रयोग किया गया है। पाणिनीय लोग तो विवर्त्तवाद मानते ही हैं, इससे इनके स्पष्ट अद्वैतवादी

होने में सन्देह नहीं है। निम्बार्काचार्य द्वैत और अद्वैत दोनों स्वीकार करते हैं, इसलिए 'द्वैताद्वैतवादी' कहे जाते हैं। इस प्रकार, दार्शनिकों में तारतम्य दिखाकर भारतवर्ष में कितने दार्शनिक हुए, और उनका क्या सिद्धान्त है, इत्यादि बातों के ज्ञान के लिए संक्षेप में उनके परिचय दिये जाते हैं।

## भारतीय दर्शनकार

भारतवर्ष में दो प्रकार के दर्शनकार हुए हैं—एक नास्तिक; दूसरा आस्तिक। नास्तिकों में भी दो भेद हैं—एक आध्यक्षिक; दूसरा तार्किक। आध्यक्षिक, जो केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं, चार्वाक हैं। तार्किक नास्तिकों में भी दो भेद हैं—एक क्षणिकवादी, दूसरा स्याद्वादी। क्षणिकवादी बौद्ध हैं और स्याद्वादी जैन। आस्तिक भी दो प्रकार के हुए हैं—एक निर्गुण आत्मवादी, दूसरा सगुण आत्मवादी। सगुणात्मवादी भी दो प्रकार के हुए हैं—एक तार्किक; दूसरा श्रौत। तार्किक भी दो प्रकार के हैं—एक प्रच्छन्न तार्किक; दूसरा स्पष्ट तार्किक।

प्रच्छन्न तार्किक भी दो प्रकार के हैं—एक प्रच्छन्न द्वैतवादी, दूसरा स्पष्ट द्वैतवादी। रामानुज-सम्प्रदाय के लोग प्रच्छन्न द्वैतवादी हैं। विशिष्ट अद्वैतवादी जीव और ईश्वर में भेद मानते हैं। माध्व लोग स्पष्ट द्वैतवादी हैं। वे किसी प्रकार भी अद्वैत नहीं मानते। स्पष्ट तार्किक भी दो प्रकार के हैं—एक भोग-साधन अदृष्टवादी, दूसरा उत्पत्ति-साधन अदृष्टवादी। भोग साधन अदृष्टवादी भी दो प्रकार के हैं—एक विदेह मुक्तिवादी, दूसरा जीवन्मुक्तिवादी। विदेह मुक्तिवादी भी दो प्रकार के होते हैं—आत्मभेदवादी और आत्मैक्यवादी। आत्मभेदवादी भी दो प्रकार के हैं—कर्म-निरपेक्ष ईश्वरवादी और कर्म सापेक्ष ईश्वरवादी। कर्म-निरपेक्ष ईश्वरवादी नकुलीश पाशुपत हैं, और कर्म-सापेक्ष ईश्वरवादी शैव हैं। प्रत्यभिज्ञादर्शी आत्मैक्यवादी हैं। रसेश्वर जीवन्मुक्तिवादी हैं। उत्पत्तिसाधन अदृष्टवादी भी दो प्रकार के हैं—एक शब्द को प्रमाण माननेवाले, दूसरे शब्द-प्रमाण को नहीं माननेवाले। शब्द-प्रमाण को नहीं माननेवाले वैशेषिक, और शब्द-प्रमाण को माननेवाले नैयायिक हैं।

श्रौत भी दो प्रकार के होते हैं—एक वाक्यार्थवादी, दूसरे पदार्थवादी। वाक्यार्थवादी मीमांसक और पदार्थवादी वैयाकरण हैं। निर्गुणात्मवादी भी दो प्रकार के हैं—एक तार्किक, दूसरा श्रौत। तार्किक भी दो प्रकार के हैं—निरीश्वर और सेश्वर। सांख्य निरीश्वरवादी और पातञ्जल सेश्वरवादी हैं। शाङ्कर अद्वैतवादी हैं। इस प्रकार, सत्रह दर्शनकारों का, जिनमें सोलह दर्शनकारों के मत का विवेचन 'सर्वदर्शन' में सायण माधवाचार्य ने भलीभाँति किया गया है, संग्रह संक्षेप में किया गया। इसके बाद कौन दर्शन किस दर्शन की अपेक्षा अभ्यर्हित है, यह दिखाया जायगा।

## दर्शन-तारतम्य-विचार

इस विषय में पहले यह बात जान लेनी चाहिए कि विवाद-स्थल में, जिस दर्शन में सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तत्त्व का, जितनी ही अधिक सूक्ष्मेक्षिका बुद्धि से अनुसन्धान किया गया है, वही दर्शन उत्कृष्ट अर्थात् अभ्यर्हित माना जाता है। पूर्व में नास्तिक

और आस्तिक-भेद से दो प्रकार के दर्शन बता चुके हैं। नास्तिकों की अपेक्षा आस्तिक-दर्शन को सब लोग अभ्यर्हित मानते हैं। इसका कारण आगे बताया जायगा। पहले नास्तिकों का तारतम्य बताया जाता है।

नास्तिकों में सबसे स्थूल विचारवाले आध्यक्षिक, अर्थात् चार्वाक माने जाते हैं। कारण यह है कि समस्त सांसारिक व्यवहार का निर्वाहक जो अनुमान है, उसको भी ये लोग प्रमाण नहीं मानते। प्रत्यक्ष से अनुभूयमान जो पृथिवी, जल, तेज और वायु—ये चार तत्त्व हैं, इन्हींको ये लोग मूलतत्त्व मानते हैं। जाल-सूर्य-मरीचि में प्रत्यक्ष दृश्यमान जो रज के कण हैं, वही इनके मत में परमाणु माने जाते हैं। वह अणुत्व की पराकाष्ठा है। इनके मत में प्रत्यक्ष विषय से भिन्न कोई तत्त्व ही नहीं है। इसलिए, सब दर्शनों की अपेक्षा चार्वाक-दर्शन निम्न कोटि का माना जाता है। यहाँ तक कि ब्रह्मसूत्रकार व्यासदेव ने खण्डनीय मानकर भी इनके मत का उल्लेख नहीं किया। इसीलिए, सब दर्शनकार इनको हेय दृष्टि से देखते हैं। चार्वाकों की अपेक्षा बौद्ध दर्शन अभ्यर्हित माना जाता है। क्योंकि, ये लोग भूतों को मूलतत्त्व न मानकर चार भूतों के परमाणु को ही मूलतत्त्व मानते हैं।

एक बात और है कि बौद्ध लोग जाल-सूर्य की मरीचि में रहनेवाले रज के कणों को ही परमाणु नहीं मानते, जैसा कि चार्वाकों ने माना है, किन्तु उन रजकणों के सूक्ष्म अवयवों को ही ये लोग परमाणु मानते हैं। क्योंकि, मरीचिस्थ जो रज के कण हैं, वे प्रत्यक्ष दृश्यमान होने से संघात-रूप होते हैं, और संघात सावयव ही होता है और जो सावयव होता है, वह परमाणु नहीं हो सकता, इसलिए उनके निरवयव जो अवयव हैं, वे ही परमाणु शब्द के वाच्य हो सकते हैं। सूर्यमरीचिस्थ रज के कणों को अपनी सूक्ष्मेक्षिका से अनुमान द्वारा सावयव अनुसन्धान करने के कारण ही ये लोग चार्वाकों की अपेक्षा अभ्यर्हित माने जाते हैं। ये लोग आकाश को तत्त्वान्तर नहीं मानते। इनका कहना है कि पृथिवी आदि का अभाव-रूप ही आकाश है, भाव-रूप तत्त्वान्तर नहीं है। बौद्धों में भी चार भेद हैं—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक—इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माना जाता है। क्योंकि, सर्वसाधारण के अनुभवारूढ जो आभ्यन्तर और बाह्य पदार्थ हैं, माध्यमिक लोग शून्य मानकर उनका अपलाप करते हैं। 'सर्वं शून्यं शून्यम्', इनका परम सिद्धान्त है। इनकी अपेक्षा योगाचार का मत श्रेष्ठ माना गया है। क्योंकि, बाह्य घट-पटादि पदार्थों का अपलाप करने पर भी उनके आभ्यन्तर अर्थ को ये लोग मानते हैं। इनका यह सिद्धान्त है कि आभ्यन्तर जो ज्ञान है, वही बाह्य घट-पटादि के आकार में भासित होता है। इनकी अपेक्षा भी सौत्रान्तिकों का दर्शन श्रेष्ठ माना जाता है; क्योंकि ये लोग बाह्य घटादि अर्थ को भी वस्तुतः स्वीकार करते हैं। किन्तु, इनका भी कहना है कि बाह्य वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु अनुमान से सिद्ध होने के कारण बाह्य वस्तु अनुमेय ही होती है। इसलिए, वैभाषिकों का मत इनकी अपेक्षा अभ्यर्हित माना जाता है। क्योंकि, वैभाषिक लोग बाह्य अर्थ का भी प्रत्यक्ष मानते हैं। बाह्य घट, पट आदि अर्थ प्रत्यक्ष हैं—यह आबालवृद्ध सकल जनों का

प्रसिद्ध अनुभव है। इसलिए, बाह्य अर्थ को अप्रत्यक्ष मानना, अथवा असत्य मानना या अनुमेय मानना अथवा आभ्यन्तरार्थ असत्य मानना, यह सब प्रतीति के विरुद्ध होने के कारण परमार्थतः उपेक्ष्य हैं। क्योंकि, कल्पना प्रतीति का अनुसरण करती है, प्रतीति कल्पना का अनुसरण नहीं करती।

इन चार प्रकार के बौद्धों की अपेक्षा जैनों का मत अभ्यर्हित माना जाता है। जैन लोग अपनी सूक्ष्मेक्षिका से आकाश को भी तत्त्वान्तर मानते हैं। बौद्धों की तरह वे आकाश को अभाव-स्वरूप नहीं मानते। बौद्धों की अपेक्षा जैनों में एक विशेषता और भी है कि इन लोगों ने मूलभूत परमाणु एक स्वरूप ही है, इस प्रकार तर्क-बल से अनुसन्धान कर निश्चय किया है। बौद्धों की तरह पृथिवी आदि के भेद से ये चार प्रकार के मूलतत्त्व नहीं मानते। पृथिवी आदि भेद तो पृथिवी से घट आदि की तरह बाद में होता है। इनके मत में किसी वस्तु के सम्बन्ध में, यह ऐसा ही है, इस प्रकार का निश्चय नहीं कर सकते। इनके मत में सब कुछ अनेकान्त अर्थात्, अनिश्चित ही है। इसीलिए ये लोग अनैकान्तिक या स्याद्वादी कहे जाते हैं। इस प्रकार, चर्वाक से जैन-पर्यन्त छह दर्शनों का संक्षेप से तारतम्य दिखाकर आस्तिक दर्शनकारों का भी तारतम्य दिखाया जाता है।

इसके पहले 'आस्तिक' और 'नास्तिक' शब्दों का वाच्य अर्थ क्या है, इसके ऊपर भी विचार करना अत्यावश्यक प्रतीत होता है। 'अस्ति इति मतिर्यस्य स आस्तिकः' और 'नास्ति इति मतिर्यस्य स नास्तिकः', इस व्युत्पत्ति से यही अर्थ प्रतीत होता है कि 'अस्ति'— अर्थात् है, इस प्रकार जिसकी मति है, वह आस्तिक और 'नास्ति' नहीं है, इस प्रकार की जिसकी मति है, वह नास्तिक कहा जाता है। दूसरे शब्दों में यही नास्तिक और आस्तिक शब्दों का वाच्य अर्थ है। परन्तु ऐसा अर्थ करने पर भी सन्देह बना ही रहता है कि 'अस्ति' का कर्त्ता कौन है? 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः'—इस सूत्र में, जिससे आस्तिकः, नास्तिकः, दैष्टिकः, इन प्रयोगों की सिद्धि होती है, निर्दिष्ट मति को ही यदि कर्त्ता मान लें, तब तो यह अर्थ होगा कि मति है जिसकी, वह आस्तिक और मति नहीं है जिसकी, वह नास्तिक। इस स्थिति में चोर आदि भी आस्तिक कहाने लगेंगे। केवल पाषाण आदि अचेतन ही नास्तिक होंगे, जिनकी मति नहीं है। इसी दोष का वारण करने के लिए पतञ्जलि ने महाभाष्य में कहा है—'इति लोपोऽत्र द्रष्टव्यः', अर्थात् सूत्र में 'इति' शब्द भी है, जिसका लोप हुआ है। इस, 'इति' शब्द के स्मरण से यह अर्थ होता है कि अस्ति, है, इति, इस प्रकार की मति बुद्धि है जिसकी, वह आस्तिक है और इसके विपरीत नास्तिक। इतने पर भी सन्देह रह जाता है कि अस्ति का कर्त्ता कौन है? यदि लौकिक दृश्यमान घट, पट आदि पदार्थों को ही 'अस्ति' का कर्त्ता मान लें, तब तो सब लोग ही आस्तिक हो जायेंगे, नास्तिक कोई नहीं होगा; क्योंकि, लौकिक पदार्थों का अस्तित्व सभी कोई मानते हैं। इसलिए, अस्ति का कर्त्ता लौकिक पदार्थ कभी नहीं हो सकता, बल्कि परलोक या पारलौकिक पदार्थ ही अस्ति का कर्त्ता हो सकता है। इसी अभिप्राय से

उपर्युक्त सूत्र के भाष्य की व्याख्या में कैयट ने स्पष्ट लिखा है—'परलोककर्तृका सत्ताऽत्र ज्ञेया'—अर्थात् इस अस्ति का कर्त्ता परलोक ही हो सकता है, दूसरा नहीं।

इससे यही सिद्ध होता है कि परलोक है, इस प्रकार की मति हो जिसकी, वह है आस्तिक और परलोक नहीं है, इस प्रकार जिसकी मति हो, वह है नास्तिक। इस प्रकार अर्थ करने से परलोक नहीं माननेवाले चार्वाक आदि छह दर्शनकार नास्तिक कहे जाते हैं और इनके अतिरिक्त सब दर्शनकार, परलोक की सत्ता मानते हैं, जो आस्तिक कहे जाते हैं। तात्पर्य यह है कि भूत और भौतिक जितने प्रतीयमान पदार्थ हैं, उनके अस्तित्व में तो किसी का भी विवाद नहीं है। इसलिए, उसको यदि अस्ति का कर्त्ता मानते हैं, तब तो 'नास्तिक' शब्द का कोई भी विषय नहीं रह जायगा। क्योंकि, भौतिक पदार्थों को नहीं माननेवाला कोई भी चार्वाक आदि में नहीं है। इसलिए दृश्यमान पदार्थों से भिन्न अदृश्यमान परलोक ही अस्ति का कर्त्ता सम्भावित है।

अथवा 'अस्ति, नास्ति' इत्यादि सूत्र में अस्ति का कर्त्ता भी अस्ति ही हो सकता है। अर्थात्, सूत्र में अस्ति पद की आवृत्ति से अस्ति; अर्थात् त्रिकालाबाध्य सत् पदार्थ, अस्ति, अर्थात् है, ऐसी मति हो जिसकी, वह है आस्तिक। इसके विपरीत है नास्तिक।

त्रिकालाबाध्य, अर्थात् जिसका तीनों काल में बाध न हो, ऐसे सत् पद के अर्थ में 'अस्ति' अव्यय प्रसिद्ध है। 'अस्ति क्षीरा गौः' इस उदाहरण में अस्ति का विद्यमान ही अर्थ होता है। इसके अतिरिक्त 'अस्ति सिचोऽपृक्ते' इस पाणिनि-सूत्र में भी अलुप्यमानार्थक अस्ति का प्रयोग किया गया है। श्रुति-स्मृति-लोक-व्यवहार से भी यही प्रतीत होता है कि परलोक, ईश्वर, वेद का प्रामाण्य माननेवाले ही आस्तिक कहे जाते हैं, और नहीं माननेवाले नास्तिक। अब पूर्व प्रतिज्ञात आस्तिकों में तारतम्य दिखाया जाता है।

## आस्तिक-दर्शन

आस्तिकों के दो भेद पहले ही बताये जा चुके हैं—एक श्रौत दूसरा तार्किक। जो मूलतत्त्व के अनुसन्धान में श्रुति को ही प्रधान साधन मानते हैं, वे श्रौत कहे जाते हैं। जो दार्शनिक तर्कोपस्कृत अनुमान को ही मूलतत्त्व के अन्वेषण में प्रधान साधन मानते हैं, वे तार्किक कहे जाते हैं। तार्किकों की अपेक्षा श्रौत दर्शनकार अभ्यर्हित माने जाते हैं, और तार्किक निम्न कोटि के। इसका कारण यही है कि अतिसूक्ष्म मूलतत्त्व के विषय में, यह ऐसा ही है, इस प्रकार का निश्चय केवल तर्क की सहायता से कोई नहीं कर सकता है। क्योंकि, 'तर्कोऽप्रतिष्ठः', तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है। कारण यह है कि मनुष्य-बुद्धि के अनुसार ही तर्क हुआ करता है। बुद्धि में तारतम्य होने के कारण एक तर्क दूसरे तर्क से कट जाता है। श्रुति में यह बात नहीं है। अपौरुषेय या ईश्वर-प्रणीत श्रुति में मनुष्योचित दोष की सम्भावना ही नहीं है। विशेषतः अदृष्ट पदार्थों के विषय में श्रुति ही मार्ग-प्रदर्शिका होती है। तर्क से सत्य मूलतत्त्व का ही अनुसन्धान होगा, यह निश्चय नहीं किया जा सकता। एक बात और भी कह सकते हैं कि मनुष्य की बुद्धि की सीमा होती है, और जिसकी सीमा नहीं है, उस

निस्सीम आत्मतत्त्व या ईश्वर-तत्त्व के ज्ञान कराने में अनुमान किसी प्रकार भी सफल नहीं हो सकता, जबतक श्रुति का प्रकाश नहीं मिलता।

आस्तिक दर्शनकारों में यद्यपि कोई भी श्रुति को अप्रमाण नहीं मानता, पर तोभी कोई श्रुति को मुख्य और तर्क को गौण मानता है, और कोई तर्क को ही मुख्य और श्रुति को गौण मानता है। जिसकी जिसमें विशेष श्रद्धा है, वह उसी को प्रधान मानता है, इतर को गौण। रामानुजाचार्य और माध्वाचार्य श्रुति को पूर्ण प्रमाण मानते हैं, परन्तु कहीं अनुमान को भी अधिक प्रश्रय देते हैं। रामानुजाचार्य का यह सिद्धान्त प्रतीत होता है कि श्रुति से सिद्ध जो अर्थ है, वह अनुमान से भी अवश्य सिद्ध होता है। इन्होंने कहीं पर भी श्रुति की अवहेलना नहीं की है। 'सर्वदर्शन-संग्रह' के टीकाकार विद्वत्प्रकाण्ड अभ्यङ्कर जी ने अपनी भूमिका में प्रच्छन्न तार्किक कहकर रामानुजाचार्य की जो अवहेलना की है, वह उसी प्रकार है, जिस प्रकार प्रच्छन्न बौद्ध कहकर शङ्कराचार्य की अवहेलना की गई है। वास्तव में, रामानुजाचार्य उसी प्रकार मान्य और अभ्यर्हित हैं, जिस प्रकार शङ्कराचार्य। इसलिए, सब दर्शनों की अपेक्षा जिस प्रकार शाङ्कर दर्शन अभ्यर्हित और मूर्धन्य माना जाता है, उसी प्रकार रामानुज-दर्शन भी मूर्धन्य और अभ्यर्हित है, इसमें कोई सन्देह नहीं। दो-एक विषयों में शाङ्कर दर्शन और रामानुज-दर्शन में गहरा मतभेद पाया जाता है। इसी के कारण दोनों के अनुयायियों ने परस्पर कीचड़ उछालने का प्रयत्न किया है। वास्तव में यह उचित नहीं है। उचित तो यह था कि दोनों मिलकर परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करते।

प्रकृत में, आस्तिक दर्शनों में श्रुति को अप्रमाण किसी ने भी नहीं माना है, यह पहले भी बताया जा चुका है। तोभी मूलतत्त्व के अन्वेषण में किसी ने श्रुति के ही आधार पर अनुसन्धान किया है, और किसी ने श्रुति की सहायता से अनुमान के द्वारा। और, किसी ने श्रुति की सहायता न लेकर भी केवल अनुमान के द्वारा ही मूलतत्त्व का अनुसन्धान किया है। इस प्रकार, माहेश्वर दर्शनकारों ने अनुमान के बल पर ही मूलतत्त्व का अन्वेषण किया है। माहेश्वरों में भी चार भेद पाये जाते हैं—शैव, नाकुलीश पाशुपत, प्रत्यभिज्ञावादी और रसेश्वरवादी। इन लोगों में प्रायः बहुत ऐकमत्य है, और भेद बहुत कम। रसेश्वरवादी जीवन्मुक्ति में बहुत अभिनिविष्ट हैं। प्रत्यभिज्ञावादी जीव और ईश्वर में भेद नहीं मानते। अर्थात्, दोनों को एक ही मानते हैं। नकुलीश पाशुपत, जगत् की सृष्टि में ईश्वर को कर्म-सापेक्ष नहीं मानते। क्योंकि, कर्म-सापेक्ष मानने पर ईश्वर की स्वतन्त्रता ही नष्ट हो जाती है। परन्तु, कर्म-सापेक्ष न मानने से ईश्वर में वैषम्य, नैघृण्य आदि दोष हो जाते हैं, इसलिए कर्म-सापेक्ष ईश्वर को मानना आवश्यक हो जाता है।

इन चार प्रकार के माहेश्वरों में तत्त्वों के विषय में प्रायः ऐकमत्य रहता है। केवल इनमें नकुलीश पाशुपत ईश्वर को कर्म-निरपेक्ष मानते हैं। अर्थात्, सृष्टि में परमात्मा स्वतन्त्र है, वह कर्म की अपेक्षा नहीं रखता, यह इनकी मान्यता है। इनके अतिरिक्त और लोग ऐसा नहीं मानते। प्रत्यभिज्ञावादी से भिन्न माहेश्वरानुयायी जीव

और ईश्वर में भेद मानते हैं। इन लोगों में तारतम्य नहीं के बराबर है। इनके अतिरिक्त न्याय, वैशेषिक, सांख्य और पातञ्जल हैं, वे यद्यपि तार्किक ही हैं, तथापि माहेश्वरों की अपेक्षा इनकी श्रुति में विशेष श्रद्धा रहती है। इसलिए, माहेश्वरों की अपेक्षा ये अभ्यर्हित माने जाते हैं।

वैशेषिक-दर्शन की अपेक्षा न्याय-दर्शन को ही लोग अभ्यर्हित मानते हैं। क्योंकि, वैशेषिक लोग शब्द को प्रमाण नहीं मानते। इनका कहना है कि श्रुति का प्रामाण्य तो अनुमान से ही सिद्ध किया जाता है। इसलिए, अनुमान में ही श्रुति गतार्थ है। केवल अनुमान का साधनीभूत जो अर्थ है, उसी को श्रुति उपस्थापित करती है। इसलिए, शब्द इनके मत में स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना जाता। नैयायिकों के दर्शन में शब्द को भी स्वतन्त्र प्रमाणान्तर माना गया है। वैशेषिकों की अपेक्षा श्रुति में अधिक श्रद्धा रखने के कारण ही न्याय-दर्शन को अभ्यर्हित माना गया है। उक्त चार माहेश्वरों से न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग-दर्शन अभ्यर्हित माना जाता है। इसका कारण तो बता ही चुके हैं। अब न्याय-वैशेषिक की अपेक्षा सांख्य-योग को अभ्यर्हित माना जाता है, इसका कारण क्या है, यह विचार करना है। नैयायिक और वैशेषिक ने अनुमान के बल से जगत् का मूल कारण परमाणु को स्थिर किया है, परन्तु परमाणु का भी कोई कारण है, यह बात इनके अनुमान में नहीं आई। सांख्य और पातञ्जल ने अनुमान से ही परमाणु के भी कारण, त्रिगुणात्मक प्रकृति, को खोज निकाला। यहाँ तक नैयायिकों और वैशेषिकों की पहुँच नहीं हो पाई थी। इसीलिए, सांख्य-पातञ्जल की अपेक्षा इनका दर्शन निम्नकोटि का माना जाता है।

सांख्य और पातञ्जल परमाणु को भी अनित्य मानते हैं और अनुमान के ही बल से उन्होंने त्रिगुणात्मक प्रकृति को जगत् का मूल कारण स्थिर किया है। इसके अतिरिक्त ये लोग आत्मा को ज्ञान-स्वरूप मानते हैं। नैयायिक और वैशेषिक आत्मा को जड़ ही मानते हैं। यह पहले भी बताया गया है। इन्हीं सब कारणों से सांख्य और पातञ्जल-दर्शन को नैयायिक और वैशेषिक-दर्शन की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है। पाणिनीय और जैमिनि-दर्शन विशुद्ध श्रौत-दर्शन हैं, इसलिए उनकी अपेक्षा इनको अभ्यर्हित माना जाता है। नैयायिकों की अपेक्षा तत्त्व के अनुसन्धान में भी ये लोग आगे बढ़े हैं। क्योंकि, आकाश से भी परे आकाश के कारणीभूत शब्द-ब्रह्म का इन लोगों ने अनुसन्धान किया है।

पृथिवी, अप्, तेज और वायु के जो परमाणु हैं, उनमें क्रमशः पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तरोत्तर परमाणुओं के कारणत्व का पाणिनीयों और जैमिनियों ने स्वीकार किया है। नैयायिक लोग तर्क के बल से तत्त्व का अनुसन्धान करते हुए भी परमाणु के कारण का अनुसन्धान नहीं कर सके, प्रत्युत परमाणु को नित्य ही मानते हैं। इनमें भी जैमिनियों की अपेक्षा पाणिनीय अभ्यर्हित माने जाते हैं। कारण यह है कि जैमिनियों का उपजीव्य व्याकरण ही है। क्योंकि, व्याकरण से सिद्ध प्रकृति-प्रत्यय के विभाग का अवलम्बन कर जैमिनीय केवल वाक्यार्थ का ही विचार करते हैं। और भी, व्याकरण की पवित्रता के विषय में इन्होंने अपना विचार स्पष्ट अभिव्यक्त किया है—

पृथिवी पर सबसे पवित्र जल है, जल से भी पवित्र मन्त्र हैं और ऋग्, यजु, साम इन त्रिवेदी मन्त्रों से भी पवित्र व्याकरण है। यथा—

'आपः पवित्रं परमं पृथिव्यामपां पवित्रं परमञ्च मन्त्राः।
तेषाञ्च सामर्ग्यजुषां पवित्रं महर्षयो व्याकरणं निराहुः॥'

वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने भी व्याकरण को ब्रह्म-प्राप्ति का साधन बताया है—'तद्व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते।'

सांख्यशास्त्र की भी अपेक्षा व्याकरण-दर्शन अभ्यर्हित है। इसका कारण यही है कि सांख्य लोग अचेतन प्रकृति को ही मूल-कारण मानते हैं और व्याकरण-दर्शन शब्द-ब्रह्म को, जिसको स्फोट ब्रह्म भी कहते हैं, मूल-कारण मानता है। यह शब्द-ब्रह्म चेतन और कूटस्थ नित्य है, इसी का विवर्त्त अखिल प्रपञ्च है। यह शब्द-ब्रह्म प्रकृति से भी परे अनादि और अनन्त है। यही शब्द-ब्रह्म, जिसको स्फोट कहते हैं, शक्ति-प्रधान होने से वाङ्मय जगत् का और शक्य (शक्त)-प्रधान होने से अर्थमय जगत् का विवर्त्तोपादान होता है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में स्पष्ट लिखा है—

'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥'

यहाँ शब्द को चेतन कहने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि शब्द चेतन है। शङ्कराचार्य का विवर्त्तवाद भी इनका अभिमत है। वास्तव में शाङ्कर दर्शन और व्याकरण-दर्शन दोनों समकक्ष हैं। इनमें तारतम्य नहीं है। सर्वदर्शन-संग्रह की भूमिका में पण्डितप्रवर अभ्यङ्करजी ने सांख्य-दर्शन से व्याकरण-दर्शन को निम्न कोटि का बताया है, यह सर्वथा अनुचित और स्फोट-तत्त्व के अनभिज्ञत्व का परिचायक है।

इस विषय के अधिक जिज्ञासुओं को हमारा 'शब्द-सृष्टि-विमर्श' (स्फोटवाद) देखना चाहिए। एक बात प्रायः निर्विवाद-सी है कि आत्ममीमांसा के विषय में शाङ्कर दर्शन, जो विवर्त्तवाद को मानता है, सब दर्शनों का मूर्धन्य श्रौत दर्शन है। इस स्थिति में चार्वाक से लेकर अन्य सब दर्शनों में, जो दर्शन शाङ्कर दर्शन के जितने प्रत्यासन्न अर्थात् नजदीक है, वह उतना ही अभ्यर्हित माना जाता है। शङ्कराचार्य का मुख्य सिद्धान्त विवर्त्तवाद है। विवर्त्तवाद आत्मा के स्वरूप को देह से भिन्न, अक्षणिक, कूटस्थ, नित्य, निर्विकार, बोधस्वरूप, अवाङ्मनसगोचर, ईश्वर, ब्रह्मादि-पदवाच्य, कर्त्तृत्व-भोक्तृत्वादि-रहित, असङ्ग और निर्विशेष मानता है। इस स्थिति में, शाङ्कर दर्शन के सबसे नजदीक व्याकरण-दर्शन ही आता है। इसका कारण यही है कि शङ्कराचार्य का मुख्य सिद्धान्त विवर्त्तवाद है। व्याकरण-दर्शन से भिन्न कोई भी दर्शन विवर्त्तवाद का समर्थन नहीं करता है। आत्मा के कूटस्थ नित्यत्व आदि के विषय में भी यही बात है। सांख्य-दर्शन ने तो विवर्त्तवाद के प्रतिकूल परिणामवाद को ही माना है। इसके अतिरिक्त शाङ्कर मत के विरुद्ध आत्मा में परस्पर भेद भी माना है। इसलिए भी, सांख्य-दर्शन को, शाङ्कर दर्शन के सिद्धान्त के समीप होने से, व्याकरण-दर्शन की अपेक्षा जो श्रेष्ठ बताया गया है, वह भी सर्वथा अनुचित है। बल्कि, यह कहने में भी

कोई आपत्ति नहीं दीख पड़ती कि शङ्कराचार्य का जो विवर्त्तवाद मुख्य सिद्धान्त है, उसका उपजीव्य व्याकरण-दर्शन ही है।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि शाङ्कर दर्शन का व्याकरण-दर्शन के साथ जितना सामञ्जस्य है, उतना और किसी के साथ नहीं। परन्तु, आत्ममीमांसा के विषय में शाङ्कर दर्शन सबसे बाजी मार ले जाता है, जब कि व्याकरण-दर्शन का मुख्य उद्देश्य पदार्थ-मीमांसा ही है।

## शास्त्रकारों का उद्देश्य

प्रायः सब शास्त्रकारों का उद्देश्य साक्षात् या परम्परया अद्वैत ब्रह्म के बोध कराने में ही सफल होता है। क्योंकि, शास्त्रकार लोग साधारण जन की तरह भ्रान्त नहीं होते। स्वभावतः लोगों की उन्मार्ग में प्रवृत्ति होती रहती है, उसके वारण के लिए ही शास्त्र की रचना में उनकी प्रवृत्ति होती है। यह समान उद्देश्य सब शास्त्रकारों का है। बादरायण और जैमिनि प्रभृति सूत्रकारों और शङ्कराचार्य, शबरस्वामी आदि भाष्यकारों की भी शास्त्र-रचना में इसी उद्देश्य से प्रवृत्ति हुई है।

## अद्वैत-मत में कर्म की अपेक्षा

कोई-कोई सन्देह करते हैं कि शङ्कराचार्य नास्तिकों की तरह कर्म के विरोधी हैं, परन्तु उनका यह कहना उचित नहीं प्रतीत होता है; क्योंकि चित्त-शुद्धि के लिए वे कर्म को अवश्य कर्त्तव्य मानते हैं। इनके कहने का तात्पर्य यही होता है कि चित्त की शुद्धि निष्काम कर्म से ही होती है, सकाम कर्म से नहीं। कारण यह है कि सकाम कर्म से चित्त में राग ही पैदा होता है। और राग एक प्रकार का मल ही है, इसलिए सकाम कर्म से चित्त निर्मल कभी नहीं हो सकता। इसलिए निष्काम कर्म ही, चित्तशुद्धि के लिए आवश्यक है। यदि यह कहें कि निष्काम कर्म की कर्त्तव्यता को वे स्वीकार करते हैं, तो निष्कर्मवादी क्यों कहे जाते? इसका उत्तर यही हो सकता है कि कर्म का त्याग करना चाहिए, इस बुद्धि से कोई भी कर्म का त्याग नहीं करता, किन्तु निद्रावस्था में स्वभाव से ही कर्म का त्याग हो जाता है। वहाँ किसी का भी यह सङ्कल्प नहीं होता कि मैं कर्म का त्याग करता हूँ और, वह कर्म-त्याग के लिए कोई प्रयत्न भी नहीं करता है।

किन्तु, कर्म का बीज जो देहाभिमान है, उसका अभाव हो जाने पर स्वभाव से ही उस समय कर्म का त्याग हो जाता है। उस समय मनुष्य कर्म को नहीं छोड़ता, किन्तु कर्म ही मनुष्य को छोड़ देता है, इसीका नाम नैष्कर्म्यावस्था है। इस अवस्था की प्राप्ति के लिए निष्काम कर्म की अवश्यकर्त्तव्यता का विधान आचार्यों ने किया है। जिस प्रकार काँटे से काँटा निकाला जाता है—'कण्टकं कण्टकेन विशोधयेत्'; इसी प्रकार निष्काम कर्म के द्वारा ही देहाभिमान को हटाया जा सकता है, जिससे नैष्कर्म्यावस्था की प्राप्ति सम्भव है। इस अवस्था की प्राप्ति-पर्यन्त निष्काम कर्म की परम आवश्यकता होने के कारण ही भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्म में ही प्रवृत्त कराया है। एक बात और भी ध्यान में रखना चाहिए कि केवल निष्काम

कर्म से ही मनुष्य-जीवन की कृतार्थता नहीं होती, किन्तु आत्मज्ञान में ही कृतार्थता है। इसीलिए भगवान् ने गीता में कहा है—

**'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते।'**

हे अर्जुन ! समस्त कर्म ज्ञान में ही समाप्त होते हैं। तात्पर्य यही है कि समस्त कर्त्तव्य कर्मों का फल आत्मा का ज्ञान ही होता है। जब निष्काम कर्म से चित्त की शुद्धि होती है, उस समय अधिकार-प्राप्ति के बाद आत्मज्ञान की ओर मनुष्यों की प्रवृत्ति स्वयम् आगे बढ़ने लगती है। इसी उद्देश्य से भगवान् ने गीता में कहा है—'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।' अर्थात्, चित्त-शुद्धि के बाद आत्मज्ञान का अधिकार प्राप्त होने पर इसी जन्म में या जन्मान्तर में मैं स्वयम् या अन्य कोई भी गुरु तुझे आत्म-ज्ञान का उपदेश करेगा ही। यद्यपि भगवान् जानते थे कि विना आत्म-ज्ञान की कृतार्थता नहीं होती, तथापि अर्जुन को निष्काम कर्म में प्रवृत्त कराया ही। इसी प्रकार, शास्त्रकारों ने भी उन सब विभिन्न तत्त्वों का इसी प्रकार से प्रतिपादन किया है कि तत्त्वों का ज्ञान हो जाने पर आत्मज्ञान के अधिकार की प्राप्ति हो जायगी। परन्तु, विभिन्न तत्त्वों के ज्ञान से कृतार्थता हो जायगी, यह आचार्यों का अभिप्राय नहीं है। मनुष्यों की उन्मार्ग में जो नैसर्गिक प्रवृत्ति होती रहती है, उसको रोकने के लिए ही विभिन्न लोक-बुद्धि के अनुसार जो कर्त्तव्य उनके विशुद्ध हृदय में भासित हुए, उन्हीं के अनुसार अपने-अपने शास्त्रों की रचना आचार्यों ने की है।

जिस प्रकार, अनेक रोगों से ग्रस्त किसी रोगी को देखकर चतुर चिकित्सक यही सोचता है कि ये सब रोग अवश्य निवारणीय हैं, पर एक ही औषध से सब रोग नहीं छूट सकते, और अनेक औषधों का एक काल में प्रयोग भी नहीं हो सकता। कारण, उससे अनिष्ट की सम्भावना है। इसलिए, किसी एक प्रधान रोग के निवारण के लिए ही यत्न करना चाहिए। यह सोचकर अवश्यनिवारणीय किसी प्रधान रोग के लिए ही औषध देता है और अन्य रोगों के निवारण में वह उदासीन रहता है, इसीसे यह नहीं समझना चाहिए कि और अन्य रोगों के निवारण में वैद्य का तात्पर्य नहीं है। किन्तु, प्रधान रोग के निवारण करने पर औरों का उपचार किया जायगा, यही उसका अभिप्राय रहता है। अतएव, सब रोगों के निवारण में ही वैद्य का तात्पर्य समझा जाता है।

इस प्रकार, प्रकृत में भी, सब शास्त्रकारों का यह तात्पर्य अद्वितीय परमात्म-तत्त्व के प्रतिपादन में ही समझा जाता है। श्रीमधुसूदनसरस्वती ने अपने 'प्रस्थानभेद' में स्पष्ट लिखा है—

**'सर्वेषां मुनीनां विवर्त्तवाद एव पर्यवसानेनाद्वितीये परमेश्वर एव तात्पर्यम्। नहि ते मुनयो भ्रान्ताः। सवर्ज्ञत्वात्तेषाम्। किन्तु बहिर्विषयप्रवणानामापाततः पुरुषार्थे प्रवेशो न सम्भवति, इति तेषां नास्तिक्यवारणाय तैः प्रस्थानभेदाः प्रदर्शिताः।'**

तात्पर्य यह है कि सब मुनियों का विवर्त्तवाद में ही अन्तिम निर्णय है, इसलिए अद्वितीय परमात्म-तत्त्व के प्रतिपादन में ही उनका तात्पर्य समझना चाहिए। वे मुनि लोग भ्रान्त नहीं थे। क्योंकि, वे सर्वज्ञ थे। किन्तु, बाह्य विषयों में नैसर्गिक प्रवृत्ति के

कारण मनुष्यों का मन सहसा परम पुरुषार्थ में प्रवेश नहीं कर सकता, अतएव उनके नास्तिक्य-वारण के लिए शास्त्रकारों ने प्रस्थान-भेद को दिखलाया है। उन शास्त्रकारों के तात्पर्य को नहीं समझने के कारण ही, वेदविरुद्ध अर्थ में ही उनका तात्पर्य समझकर, उसी को उपादेय मानकर वे अनेक विभिन्न मार्गों का अनुसरण करते हैं। यह सर्वसिद्धान्तसिद्ध है कि वेदान्त ही सब शास्त्रों में मूर्धन्य है और सब उसी का प्रपञ्च है। श्रीसरस्वती ने ही कहा है—

'वेदान्तशास्त्रमेव सर्वेषां शास्त्राणां मूर्धन्यम्, शास्त्रान्तरं सर्वमस्यैव शेषभूतम्।'

## सूत्रकार का श्रौतत्व

वेदान्त-शास्त्र के मूर्धन्य होने में यही कारण है कि ब्रह्मसूत्र के प्रणेता बादरायण परम श्रौताग्रणी थे। मूल कारण के अनुसन्धान में श्रुति के अतिरिक्त और किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं करते थे। वह समझते थे कि तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है। तर्क मनुष्य-बुद्धि के अधीन है, और मनुष्य-बुद्धि सीमित है, इसलिए अत्यन्त अदृष्ट निस्सीम ब्रह्म-तत्त्व का अनुसन्धान करने के लिए बिना श्रुति की सहायता के वह कभी समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए, 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' इस सूत्र की रचना बादरायण ने की है। इस सूत्र के बनाने में इनका यही अभिप्राय सूचित होता है कि वास्तविक तत्त्व-ज्ञान के लिए श्रुति-प्रमाण पर ही ये निर्भर हैं। सूत्र का अर्थ यह होता है कि जगत् के मूलतत्त्व का ज्ञान एक श्रुति-प्रमाण से ही साध्य है। इससे यह सिद्ध होता है कि जगत्कारण के स्वरूप-ज्ञान के लिए श्रुति का निर्णय ही सर्वमान्य होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह होता है कि श्रुतिप्रतिपादित मूलतत्त्व का स्वरूप यदि लौकिक युक्ति से विरुद्ध हो, तोभी उसको श्रद्धेय मानना चाहिए। ऐसे स्थलों में युक्ति या तर्क की उपेक्षा ही आवश्यक है। इसीमें श्रौतों का श्रौतत्व है। शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य और पूर्णप्रज्ञाचार्य—इन तीनों प्रधानाचार्यों के मत से भी सूत्र का यही भाव निकलता है। इन तीनों में भेद इतना ही है कि शङ्कराचार्य अद्वैत और द्वैत-प्रतिपादक श्रुतियों का समन्वय विवर्त्तवाद मानकर करते हैं। और, रामानुजाचार्य शरीर-शरीरी-भाव मानकर विशिष्ट अद्वैत में श्रुति का तात्पर्य बताते हैं। इसी प्रकार पूर्णप्रज्ञाचार्य द्वैत में और निम्बार्काचार्य द्वैताद्वैत में श्रुति का समन्वय करते हैं।

परन्तु, शङ्कराचार्य के विवर्त्तवाद में श्रुतियों का सामञ्जस्य जिस प्रकार सुगमता से होता है, उस प्रकार और दार्शनिकों के मत में नहीं होता। कोई तो श्रुति को गौण मानते हैं, और कोई खींच-तानकर अपने पक्ष में अर्थ लगाने की चेष्टा करते हैं। परन्तु, शङ्कराचार्य ने बुद्धिमान् तार्किकों का भी श्रुति में विश्वास दृढ़ कराने के लिए, विरोध का परिहार किस प्रकार होगा, यह आक्षेप कर विवर्त्तवाद में सब विरोधों का परिहार सफलतापूर्वक किया है। लोक में भी रज्जु, सर्प आदि विवर्त्त-स्थल में वास्तव में सर्प नहीं रहता और भय वास्तव में होता है। इस प्रकार, परस्पर दोनों अर्थ, सर्पाभाव और भय, का सामञ्जस्य रहता ही है। सायणाचार्य ने सर्वदर्शन-संग्रह में

स्पष्ट लिखा है कि 'न हि श्रुतिविप्रतिपन्नेऽर्थे वैदिकानां बुद्धिः खिद्यते, अपि तु तदुपपादन-मार्गमेव विचारयन्ति ।' अर्थात्, श्रुतिप्रतिपादित अर्थ के युक्ति-विरुद्ध होने से वैदिकों की बुद्धि खिन्न नहीं होती, किन्तु वह उसके उपपादन-मार्ग का ही विचार करती है। इस दिशा में शङ्कराचार्य का श्रौतत्व पराकाष्ठा को पहुँचा-सा प्रतीत होता है। विवर्त्तवाद के अङ्गीकार करने पर, प्रतीयमान जो भेद है, वह अविद्या-कल्पित सिद्ध हो जाता है। अविद्या-कल्पित होने से ही भेद को आविद्यक भी कहते हैं। इस स्थिति में 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' यह छान्दोग्य श्रुति, विना सङ्कोच के सुगमता से उपपन्न हो जाती है। इसी बात को सायणाचार्य ने सर्वदर्शन-संग्रह में लिखा है—'तस्मादाविद्यको भेदः श्रुतावद्वितीयत्वोप-पादनाय अभिधीयते, न तु व्यसनितया', अर्थात् ब्रह्म की श्रुति-प्रतिपादित अद्वितीयत्व की उपपत्ति के लिए ही भेद को 'आविद्यक' माना गया है, कुछ व्यसनिता के कारण नहीं।

विवर्त्तवाद के स्वीकार करने से निर्विशेष ब्रह्मवाद, नैष्कर्म्यवाद, जगन्मिथ्यात्ववाद, केवल ज्ञान से मोक्ष, मोक्ष में सुख-दुःख-राहित्य, ब्रह्म का ज्ञान-स्वरूपत्व, ज्ञान का एकत्व और नित्यत्व, अविद्योपहित ब्रह्म का कारणत्व, ईश्वर-जीव में औपाधिक भेद और मायावाद इत्यादि वाद जो शाङ्कर दर्शन में प्रसिद्ध हैं, ये सभी सरलता से उपपन्न हो जाते हैं, और श्रुति का स्वारसिक जो अर्थ है, वह भी सरलता से उपपन्न हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि श्रुति के अर्थ को सरलता से उपपन्न होने के लिए ही शङ्कराचार्य ने उक्त वादों को स्वीकार किया है। तात्पर्य यह है कि श्रुति के श्रवण-मात्र से स्पष्ट प्रतीयमान जो अर्थ हैं, उनकी सङ्गति, विवर्त्त आदि वादों के स्वीकार करने में ही हो सकती है। अन्यथा, श्रुति को गौणार्थ मानना आवश्यक हो जायगा। अतएव, सूत्रकार श्रौतों में अग्रगण्य हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है।

## भाष्यकार की प्रवृत्ति

यह बता चुके हैं कि सूत्रकार भगवान् बादरायण श्रौतों में अग्रणी हैं। इनके सूत्रों के व्याख्यान में प्रवृत्त जो भाष्यकार हैं, उनको चाहिए कि सूत्रों की व्याख्या ऐसी करें कि सूत्रकार के श्रौतत्व में बाधा न आवे। अर्थात्, उनके श्रौताग्रणी होने में व्याघात न हो। जितने श्रौत दर्शनकार हैं, वे सभी, श्रुति के श्रवण-मात्र से प्रतीयमान जो स्वारसिक अर्थ है, उसकी उपेक्षा नहीं करते। बल्कि, उसके समर्थन के लिए ही प्रयत्न करते हैं। सामान्य अर्थ भी जो श्रुति से अभिहित होता है, उसकी भी उपेक्षा श्रौत लोग नहीं करते, और स्वारसिक अर्थ के विषय में तो कहना ही क्या है। यदि व्यञ्जना-वृत्ति से लब्ध जो व्यंग्य अर्थ है, उसका श्रुत्यन्तर से विरोध न हो, तो उस विषय में भी उनकी वही विचार-धारा रहती है। यदि श्रुत्यन्तर से विरोध हो, तो दुर्बल श्रुति का दूसरे अर्थ में तात्पर्य समझा जाता है।

## श्रुतियों का बलाबल-विचार

कौन श्रुति दुर्बल है, और कौन प्रबल, इस विषय में विचार किया जाता है। श्रुति के पाँच प्रकार के अर्थ होते हैं—व्यंग्य, लक्ष्य, वाच्य, प्राथमिक और स्वारसिक। इन पाँचों में उत्तरोत्तर अर्थ की बोधिका जो श्रुति है, वह प्रबल समझी जाती है। और,

पूर्वार्थबोधिका जो श्रुति है, वह दुर्बल समझी जाती है। इनमें व्यंग्य, लक्ष्य और वाच्य तो प्रसिद्ध ही हैं। प्राथमिक और स्वारसिक, ये दोनों वाच्यविशेष ही हैं। जो अर्थ वाक्य-श्रवण-मात्र से ही बुद्धि पर आरूढ हो जाय, वही प्राथमिक है। और जो अर्थ प्रकृति-प्रत्यय के विशेषालोचनपूर्वक उसी वाक्य के श्रवण-समय में प्रतीयमान हो, वह स्वारसिक कहा जाता है। इसी प्राबल्य-दौर्बल्य-भाव का अनुसरण कर उपक्रम, परामर्श और उपसंहार के अनुरोध से सूत्रकार भगवान् बादरायण ने समन्वयाध्याय में श्रुतियों का समन्वय दिखाया है। अब सूत्र के व्याख्यान में प्रवृत्त भाष्यकार और वृत्तिकार का भी यही कर्त्तव्य हो जाता है कि इस तत्त्व की उपेक्षा न करें। अर्थात्, श्रुति के प्राबल्य-दौर्बल्य-भाव के अनुसार और उपक्रम आदि के अनुरोध से ही सूत्रों का भाष्य या वृत्ति करना भाष्यकार या वृत्तिकार का परम कर्त्तव्य हो जाता है।

इन उपर्युक्त बातों के ऊपर ध्यान देकर यदि सब भाष्यों को देखा जाय, तो यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि शाङ्कर दर्शन सब दर्शनों में मूर्धन्य है। एक बात और है कि सूत्रधार ने सब श्रुतियों का समन्वय नहीं किया है, किन्तु किसी-किसी श्रुति का अनुसन्धान कर इसी प्रकार समन्वय करना चाहिए। इसी समन्वय-मार्ग के अनुसार वादग्रस्त विषयों में उन विषयों का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों का एकत्र संकलन करना चाहिए। इसके बाद उन श्रुतियों की एकवाक्यता से पूर्वापर-संदर्भ के अनुसार ही विवादग्रस्त विषयों का निर्णय करना चाहिए। इससे भिन्न प्रकार के निर्णय करने में वास्तविकता का अभाव ही रहता है। इसलिए, वादग्रस्त कुछ विशेष विषयों में कुछ श्रुतियों का दिग्दर्शन कराना आवश्यक है, अतएव, मोक्षावस्था को प्रतिपादित करनेवाली कुछ श्रुतियों का संग्रह किया जाता है—

'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥' (ईशो० ७; बृ० आ० १।५।७)
'विद्यया विन्दतेऽमृतम्'। (केन० १२)
'निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते' (का० ३।१५)
'यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥' (कठ० ३।३८)
'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥' (कठ० ४।१५)
'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते॥' (कठ० ६।१४ बृ० आ० ४।४।७)
'स विशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद।' (मां० १२)
'तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।' (मुं० ३।२।८)
'तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं पुरुषमुपैति।' (मुं० ३।१।३)
'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥' (मुं० २।२।८)
'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।' (मुं० ३।२।६)

'यो वेदनिहितं गुहायां परमेव्योमन् ।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता ।' ( तै० २।१।१ )
'तरति शोकमात्मवित् ।' ( छां० ७।१।३ )
'अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ।' ( छां० ८।१२।१ )
'अभयं वै ब्रह्म भवति य एवं वेद ।' ( बृ० ४।४।२५ )
'ब्रह्मैव सन् ब्रह्मापेति ।' ( बृ० ४।४।६
'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् ।' ( बृ० २।४।४ )
'अभयं वै जनकं प्राप्तोऽसि' ( बृ० ४।२।४ )
'तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशाँश्छिनत्ति ।' ( श्वे० ४।१५ )
'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।' ( श्वे० २।१५ )
'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति ।' ( श्वे० ३।८ )
'यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् । स इदं सर्वं भवति ।' (बृ० १।४।१०)
'तदक्षरं वेदयते यस्तु स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेश ।' ( प्र० ४।११ )
'ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात् पाशं दहति पण्डितः ।' ( कै० ११ )
'तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः विमुच्यते ।' ( कै० १७ )
'परमेव ब्रह्म भवति य एवं वेद ।' ( नृ० ५ )
'य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ।' ( म० ना० १।११ )
'तमेवं विद्वानमृत इह भवति ।' ( नृ० पू० १।६ )
'ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति ।' ( कै० ६ )
'छिन्नपाशस्तथा जीवः संसारं तरते सदा ।' ( क्षु० १२ )
'छित्वा तन्तुं न बध्यते ।' ( क्षु० २४ )

## चार अर्थ

मोक्षावस्था का प्रतिपादन करनेवाली ये ही प्रधान श्रुतियाँ हैं, इनसे भिन्न बहुत-सी श्रुतियाँ और भी हैं, जो मोक्षावस्था का प्रतिपादन करती हैं। परन्तु, विस्तार-भय से सबका संग्रह नहीं किया गया।

इन उपर्युक्त और इनसे भिन्न जो मोक्षावस्था की प्रतिपादक श्रुतियाँ हैं, उनके ऊपर ध्यान देकर समालोचना करने से चार प्रकार के अर्थ प्रतीत होते हैं— (१) आत्मविज्ञान, (२) पाशविमोक, (३) आत्मस्वरूप-सम्पत्ति, (४) शोकादिराहित्य। ये चारों अर्थ सब श्रुतियों में निर्दिष्ट नहीं है, फिर भी यथासम्भव किसीका किसीमें विभिन्न शब्दों के द्वारा किसी प्रकार चार अर्थों का निर्देश पाया ही जाता है। इन चारों के स्वरूप का निर्णय सबकी एकवाक्यता से करना चाहिए। इनमें पहले आत्मविज्ञान की मीमांसा करनी चाहिए।

उपर्युक्त श्रुतियों में किसी में विद्वान्, किसी में विद्, किसी में वेद और किसी में ज्ञात्वा, इत्यादि उपसर्ग-रहित विद् धातु और ज्ञा धातु का प्रयोग आता है। इससे इनका अर्थ सामान्य ज्ञान ही प्रतीत होता है और विजानतः, विज्ञाय और विज्ञानवान्

इत्यादि वि-उपसर्गविशिष्ट ज्ञा धातु से ज्ञान में कुछ विशेषता प्रतीत होती है। वह विशेषता किस प्रकार की है, इस जिज्ञासा में दृष्ट, अनुपश्यतः इत्यादि श्रुति में उक्त पदों के साथ एकवाक्यता करने से प्रत्यक्ष-दर्शन, अर्थात् साक्षात्कार ही अर्थ गृहीत होता है। 'प्रत्यबुध्यत' इस श्रुति में उक्त प्रतिबोध शब्द से भी यही साक्षात्कार अर्थ प्रतीत होता है।

## आत्मसाक्षात्कार-विवेचन

श्रुति में उक्त साक्षात्कार का विषय आत्मा ही होता है। यद्यपि श्रुति में उक्त ज्ञान का विषय विभिन्न प्रतीत होता है, तथापि उन सबका तात्पर्य एक ही आत्मा में श्रुति और अनुभव से सिद्ध है। जैसे 'आत्मवित्'—इस श्रुति में वेदन अर्थात् ज्ञान का विषय आत्मा अपने शब्द से ही निर्दिष्ट है। 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः'—विज्ञान से समस्त भूतवर्ग आत्मा ही हो जाता है, यह बताया गया है और यही भूतों की आत्मस्वरूप-सम्पत्ति है। अर्थात्, विज्ञान से सब भूत आत्मस्वरूप ही हो जाता है, इस अवस्था में इतर रूप से भूतों का भान ही नहीं हो सकता है। यही आत्मस्वरूप-सम्पत्ति, वेदन का विषय आत्मा ही है, इस बात को श्रुति लक्षित करती है। 'आत्मैवाभूत्' यहाँ 'एव' शब्द से आत्मा से भिन्न वस्तु में वेदन, अर्थात् ज्ञानविषयता का निषेध भी करती है। क्योंकि, स्वरूप-सम्पत्ति वेदन के अनुरूप ही होती है। अर्थात्, जिस वस्तु का संवेदन अर्थात् साक्षात्कार होगा, उसी स्वरूप से वह भासित होगा। इसी श्रुति के अनुरोध से 'एकत्वमनुपश्यतः' इस श्रुति में दर्शन का विषय जो एकत्व बताया गया है, वह भी आत्मैकत्व का ही बोधक है, और यही मान्य भी है। ब्रह्म शब्द और आत्म शब्द पर्यायवाची हैं, इसलिए 'ब्रह्मविद्' इस श्रुति में वेदनविषयक जिस ब्रह्म का निर्देश है, वह भी आत्मा से भिन्न दूसरा कोई नहीं है। 'तस्मिन् दृष्टे परावरे' इस श्रुति में दर्शन का विषय जिस परावर को बताया गया है, उसका भी अर्थ 'आत्मैवाभूत्' इस श्रुति के अनुरोध से आत्मा ही हो सकता है, दूसरा नहीं। आत्मविचार में और भी यह श्रुति आती है—

**'दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा सम्प्रतिष्ठितः। मनोमयः प्राणशरीरनेता, प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय। तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः ज्ञानरूपममृतं यद्विभाति।'**

**—मु० उ० २।२।७**

इस श्रुति में 'परिपश्यन्ति' क्रिया का कर्म अर्थात् दर्शन क्रिया का विषय पूर्व वाक्य में प्रयुक्त आत्मा ही होता है; क्योंकि तत् शब्द से उसी का परामर्श हो सकता है। इसलिए—'तस्मिन् दृष्टे परावरे'—वाक्य में परावर शब्द से भी आत्मा का ही ग्रहण सिद्ध होता है। एक बात और भी विचारणीय है कि उस श्रुति में ब्रह्म या आत्मा के लिए 'आनन्दरूपम् अमृतम्' इस विशेषण के देने से और 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस श्रुति में आनन्द और ब्रह्म के साथ समानाधिकरण-निर्देश से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्म और आनन्द में भेद नहीं है। इसलिए, 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इस श्रुति में वेदन अर्थात् ज्ञान का विषय जो आनन्द कहा गया है, वह ब्रह्मरूप ही आनन्द है।

क्योंकि, ब्रह्म से अतिरिक्त तो कोई आनन्द है ही नहीं। यदि यह कहें कि ब्रह्म से भिन्न यदि कोई आनन्द नहीं है, तो 'ब्रह्मणः' में षष्ठी विभक्ति किस प्रकार होगी? क्योंकि, भेद में ही षष्ठी विभक्ति होती है, अभेद में नहीं। तो इसका उत्तर यह होता है कि 'ब्रह्मणः आनन्दम्' यहाँ औपचारिक षष्ठी है, जिस प्रकार—'राहोः शिरः'—यहाँ औपचारिक षष्ठी मानी गई है। केवल लोक में, अमुकस्य आनन्दः इस प्रकार का सप्रतियोगिक आनन्द का ही प्रयोग देखा जाता है, इसलिए 'ब्रह्मणः' यह षष्ठी-निर्देश कर दिया। वास्तव में तो ब्रह्म और आनन्द में कुछ भी भेद नहीं है। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि अनेक श्रुतियों में आनन्द और ब्रह्म के साथ समानाधिकरण से निर्देश मिलता है। 'आनन्दरूपममृतम्'—इस मुण्डक श्रुति में तो विशेषकर रूप शब्द से ब्रह्म को आनन्द-स्वरूप बताया है।

एक बात और है कि आनन्द और ब्रह्म में भेद माननेवाले जो द्वैतवादी हैं, उनके मत में भी—'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन'—इस श्रुति में आनन्द को औपचारिक मानना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि, ब्रह्मानन्दविषयक ज्ञान परोक्ष नहीं होता; क्योंकि परोक्ष ब्रह्मानन्द के ज्ञान से भय की निवृत्ति नहीं होती। शब्दजन्य ब्रह्मविषयक परोक्ष-ज्ञान तो हमलोगों को है ही, परन्तु भय की निवृत्ति नहीं। इसलिए, ब्रह्मविषयक वेदन, अर्थात् ज्ञान अपरोक्ष ही मानना चाहिए। अपरोक्ष का ही अर्थ साक्षात्कार या प्रत्यक्ष होता है। इस अवस्था में ब्रह्म का आनन्द हमलोगों को नहीं हो सकता, कारण यह है कि दूसरे का आनन्द दूसरा नहीं अनुभव कर सकता। इस हालत में ब्रह्मानन्द के सदृश आनन्द में लक्षणा द्वैतवादियों को मानना ही पड़ेगा।

एक बात और है कि आनन्द में लक्षणा स्वीकार करने की अपेक्षा 'ब्रह्मणः' में षष्ठी-विभक्ति में ही लक्षणा स्वीकार करना आवश्यक है; क्योंकि 'गुणे त्वन्याय्यकल्पना' इस सिद्धान्त से यही समुचित प्रतीत होता है। और, यहाँ लक्षणा स्वीकार करने पर भी 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'विज्ञानरूपममृतम्' इत्यादि समानाधिकरण-स्थल में विना लक्षण के काम नहीं चलेगा। गौरवाधिक्य के लिए वहाँ लक्षणा आवश्यक है।

आनन्देन रूप्यते-निरूप्यते इत्यानन्दरूपम्, अर्थात् जो आनन्द से सिद्ध किया जाय, वह आनन्दरूप है। इस प्रकार खींच-तानकर श्रुति का अर्थ करना स्पष्टार्थ श्रुति के लिए अन्याय्य है, और इस प्रकार क्लिष्ट कल्पना में कोई प्रमाण भी नहीं है। इसलिए, ब्रह्म और आनन्द में एकता अर्थात् अभिन्नता ही श्रुति का अभिप्रेत है, यह सिद्ध होता है।

## आत्मैकत्व का उपपादान

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि दृश्यमान प्रपञ्च के नानात्व-निवारण करनेवाली जो 'एकत्वमनुपश्यतः' श्रुति है, उसका जिस प्रकार दृश्यमान प्रपञ्च में प्रतिभासमान भेद के निवारण में तात्पर्य है, उसी प्रकार द्रष्टा और दृश्य के बीच प्रतिभासमान जो भेद है, उसके निवारण में तात्पर्य है, अथवा नहीं? यदि प्रथम पक्ष, अर्थात् द्रष्टा और दृश्य के बीच प्रतिभासमान भेद के निवारण में भी श्रुति का तात्पर्य मानते हैं, तब तो द्रष्टा का द्रष्टृत्व और दृश्य का दृश्यत्व भी नहीं रहता। क्योंकि, द्रष्टृ-दृश्यभाव भेद-

प्रयुक्त ही होता है, अर्थात् दृश्य के न रहने से द्रष्टा नहीं रह सकता, और न द्रष्टा के न रहने से दृश्य ही। इस प्रकार, दोनों के न रहने पर दर्शन का दर्शनत्व भी नहीं रह सकता। इस अवस्था में अद्वैत श्रुति तो विना सङ्कोच के उपपन्न हो जाती है, कारण यह है कि अद्वैत में ही दृश्य आदि सकल भेद-प्रपञ्च का अभाव सम्भव है। परन्तु, 'अनुपश्यतः' यह दर्शन श्रुतिविरुद्ध हो जाती है; क्योंकि विना द्रष्टा और दृश्य के दर्शन होना असम्भव है। अर्थात्, दर्शन में दृश्य और द्रष्टा की अपेक्षा अवश्य रहती है।

यदि द्वितीय पक्ष मानें, अर्थात् दृश्य और द्रष्टा के बीच जो भेद है, उसके निवारण में श्रुति का तात्पर्य न मानें, तो 'सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत्' यह सब भूतों की आत्म-भवन-श्रुति विरुद्ध हो जाती है। क्योंकि, यहाँ आत्म-शब्द स्व-शब्द का पर्याय द्रष्टा के स्वरूप का निदर्शक है। जब द्रष्टा और दृश्य में भेद विद्यमान रहे, तब दृश्य की आत्मस्वरूप-सम्पत्ति नहीं घटती। इस अवस्था में 'सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत्' और 'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' इत्यादि श्रुतियों की सङ्गति किसी प्रकार नहीं हो सकती। और भी श्रुतियों में जो एव शब्द है, उससे आत्म-भवन के प्रतिपादन में बहुत जोर देखा जाता है। इसलिए, इन दोनों पक्षों में दोष समानरूप से आ जाता है।

इसका समाधान, आत्म-श्रुति, एकत्व-श्रुति और दर्शन-श्रुति, इन तीनों श्रुतियों के विरोध के परिहार में ही है। उक्त तीनों श्रुतियो के विरोध का परिहार इसी प्रकार हो सकता है—

**'यथा शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।**
**एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥'** (क० उ० ४।१५)

इस श्रुति में आत्म-साक्षात्कार से उत्पन्न जो अवस्था है, उसका दृष्टान्त शुद्ध जल से दिया गया है। दृष्टान्त का प्रयोजन यही होता है कि दार्ष्टान्तिक अर्थ का सुगमता से बोध हो जाय।

इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शुद्ध जल में शुद्ध जल मिलाने से वह तद्वत् हो जाता है, उसी प्रकार विज्ञान से ज्ञानियों का आत्मा भी मिलकर एक हो जाता है। इस श्रुति में शुद्ध जल में शुद्ध जल के मिलाने से तादृशता (उसी प्रकार हो जाने) का विधान है। अब यह विचार करना है कि यहाँ तादृशता का क्या अभिप्राय है? क्या तादृशता का अर्थ उसके समान जातीय हो जाना है अथवा तद्रूप हो जाना? अर्थात्, जिस शुद्ध जल में जो शुद्ध जल मिलाया गया, वह शुद्ध जल उस शुद्ध जल का समानजातीय होकर उससे भिन्न ही रहता है, अथवा तद्रूप हो जाता है, अर्थात् दोनों में भेद नहीं रहता? यदि प्रथम पक्ष अर्थात् उसके समान जातीय होकर उससे भिन्न मान लें, तब तो आसेचनोक्ति व्यर्थ हो जाती है; क्योंकि आसेचन अर्थात् मिलाने के पहले भी उसका समानजातीयत्व था ही, फिर उसके समान जातीय होने के लिए मिलाना व्यर्थ ही है। इसलिए, तादृशता का अर्थ उसका सजातीय होना नहीं है, किन्तु तद्रूप हो जाना ही है, अर्थात् दोनों में भेद नहीं रहता, इसी में श्रुति का तात्पर्य है।

इसी प्रकार, दार्ष्टान्तिक स्थल में भी समस्त प्रपञ्च का विवर्त्तोपादन जो परमात्मा है, वही आसेचन का आधारभूत शुद्धजलस्थानीय है। वह विवर्त्त के उपादान होने के

कारण अत्यन्त शुद्ध है। जो विवर्त्त का उपादान होता है, वह भासमान दोष से दूषित कदापि नहीं होता, जैसे रज्जु में भासमान सर्प के विष से रज्जु कभी दूषित नहीं होता। इसी प्रकार, आधेयभूत जल के स्थान में ज्ञानियों का जो आत्मा है, वह भी समस्त कर्म-वासनाओं और अन्तःकरण के सम्बन्ध के नष्ट हो जाने पर अत्यन्त शुद्ध ही रहता है। ज्ञानियों के आत्मा का परमात्मा में यह आसेचन, श्रुति में उक्त 'विजानतः' पद का वाच्य विज्ञान ही है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शुद्ध जल में शुद्ध जल के मिलाने से दोनों का भेद प्रतीत नहीं होता, उसी प्रकार परमात्मा में आत्मा के आसेचन रूप विज्ञान से भेद की प्रतीति नहीं होती।

इस प्रकार जब 'यथा शुद्धेशुद्धमासिक्तम्' श्रुति का अर्थ स्थिर हो जाता है, तब पूर्वोक्त जो आसेचन-श्रुति, एकत्व-श्रुति और दर्शन-श्रुति, ये तीन श्रुतियाँ हैं, इनमें आत्म-श्रुति और एकत्व-श्रुति परस्परविरुद्ध नहीं होती, प्रत्युत अनुकूल ही होती हैं। केवल दर्शन-श्रुति विरुद्ध-सी प्रतीत होती है। तथापि वस्तुतः विचार करने से कुछ भी विरोध नहीं रहता। कारण यह है कि प्रत्यक्ष का अर्थ होता है—त्रिविध चैतन्यों का ऐक्य अर्थात् एक होना। आत्म-चैतन्य, ज्ञान-चैतन्य और विषय-चैतन्य, इन तीनों चैतन्यों की जब एकता हो जाती है, तब उसी को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। उन त्रिविध चैतन्यों के ऐक्यरूप प्रत्यक्ष में भेद का भान होना आवश्यक नहीं है। कहीं भेद का भान होता है और कहीं नहीं भी। सविकल्प घट आदि के प्रत्यक्ष में भेद का भान होता है, और निर्विकल्प आत्मैक्य-प्रत्यक्ष में भेद का भान नहीं होता। इसलिए, दर्शन में भेदावास की आवश्यकता नहीं होने के कारण दर्शन-श्रुति भी विरुद्ध नहीं होती, यह सिद्ध होता है।

## आत्मप्रत्यक्ष का स्वरूप

'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृहदारण्यक ३।४।१) यह श्रुति, ब्रह्म को साक्षात्प्रत्यक्ष बताती है। यहाँ अपरोक्षात् इस पञ्चम्यन्त पद का अपरोक्षम् यह प्रथमान्त ही अर्थ प्रायः सब आचार्यों ने माना है। यहाँ तक कि शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य आदि प्रधान आचार्यों ने भी यही माना है। इस अर्थ में किसी का भी विवाद नहीं है। अपरोक्षम् का प्रत्यक्ष ही अर्थ होता है। अब यहाँ विचार उपस्थित होता है कि प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग तो तीन अर्थों में होता है—'घटस्य प्रत्यक्षम्'—यहाँ ज्ञान अर्थ में, 'घटः प्रत्यक्षः' यहाँ विषय अर्थ में और 'घटस्य ज्ञापकं प्रमाणं प्रत्यक्षम्' यहाँ विषयविशेष के साधन में भी प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग देखा जाता है। किन्तु, इस प्रकृत श्रुति का अर्थ क्या है, यह विचारणीय है।

यद्यपि इन तीनों अर्थों में प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग होता है, तथापि ज्ञानविशेष ही इसका मुख्य अर्थ माना जाता है, विषय और साधन में जो प्रयोग देखा जाता है, वह गौण अर्थात् लक्षणा-वृत्ति से ही है। प्रत्यक्ष शब्द को तीनों अर्थों में मुख्य मानकर अनेकार्थ मानना समुचित नहीं है। कारण यह है कि अनेकार्थ मानने में अनेक गौरव हो जाते हैं। एक तो, शक्त्यन्तर की कल्पना ही गौरव है, दूसरा, वक्ता का

तात्पर्य समझने के लिए संयोग, विप्रयोग आदि की कल्पना में गौरव हो जाता है। जहाँ परस्परविरुद्ध अनेक अर्थ प्रतीत होते हैं, वहाँ लक्षणा से निर्वाह न होने के कारण ही अगत्या अनेकार्थ मानकर गौरव स्वीकार करना पड़ता है। जैसे, सैन्धव आदि पदों में लक्षणा से काम न चलने से अनेकार्थ माना जाता है। उसी प्रकार, यदि सर्वत्र अनेकार्थ मान लें, तो लक्षणा का कोई विषय ही नहीं रह जाता। इसलिए उक्त श्रुति में मुख्य अर्थ के सम्भव होने से गौण अर्थ मानना अनुचित हो जाता है। इस स्थिति में ब्रह्म प्रत्यक्ष ज्ञानरूप ही है, और आत्म-चैतन्य का ही नाम प्रत्यक्ष प्रमा (ज्ञान) है, यह सिद्ध हो जाता है। यही प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण श्रुति-सम्मत भी है।

वैशेषिक आदि 'इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' यह जो प्रत्यक्ष का लक्षण करते हैं, वह युक्त और श्रुतिसम्मत नहीं है। क्योंकि, ब्रह्म नित्य होने के कारणजन्य नहीं हो सकता। विषयाकार जो मनोवृत्ति है, वही इन्द्रिय-जन्य है, और उस वृत्ति से युक्त जो ज्ञानस्वरूप ब्रह्म चैतन्य है, उसी की उपाधि वह मनोवृत्ति है, इसलिए वृत्ति में जो ज्ञानत्व का व्यवहार होता है, वह औपचारिक माना जाता है। इसी प्रकार के औपचारिक ज्ञान में द्रष्टा और दृश्य की अपेक्षा रहती है। मुख्य जो आत्म-स्वरूप ज्ञान है, उसमें द्रष्टा और दृश्य की अपेक्षा नहीं रहती। चैतन्य और ज्ञान ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, ये भिन्नार्थक नहीं हैं। जब यही आत्मचैतन्य आविर्भूत होता है, तभी 'ज्ञान हुआ' इस प्रकार का व्यवहार लोक में होता है। एक बात और भी जानने योग्य है कि चैतन्यरूप ज्ञान का आविर्भाव सर्वत्र नहीं होता, किन्तु विशुद्ध-सात्त्विक स्वच्छ जो पदार्थ हैं, उन्हीं में ज्ञानरूप चैतन्य का आविर्भाव होता है। घट आदि की अपेक्षा इन्द्रियाँ स्वच्छ हैं। उनकी अपेक्षा भी मन स्वच्छतर है, और उसकी अपेक्षा भी मनोवृत्ति स्वच्छतम है।

इससे यही सिद्ध होता है कि मूर्त्त, अमूर्त्त, चेतन और अचेतन आदि सकलप्रपञ्च में निरन्तर विद्यमान रहता हुआ भी ज्ञानस्वरूप आत्मचैतन्य अत्यन्त स्वच्छतम मनोवृत्ति में ही आविर्भूत होता है, जिस प्रकार पाषाण आदि में घर्षण-विशेष (पॉलिश) से स्वच्छता आ जाने पर ही उसमें प्रतिविम्ब का प्रादुर्भाव होता है, अन्यथा नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि विषयाकार मनोवृत्ति में आविर्भूत जो ब्रह्म-चैतन्य है, उसीका प्रत्यक्ष शब्द से लोक में व्यवहार होता है। यद्यपि घट आदि अचेतन पदार्थों में भी चिद्रूप ब्रह्म का ही आविर्भाव होता है, तथापि वह आविर्भाव घट आदि विषयाकाररूप से होता है, साक्षात् नहीं। जब ब्रह्म का साक्षात् आविर्भाव होता है, उस समय तो वह मुक्त ही हो जाता है। इसीलिए, श्रुति में 'यत्साक्षादपरोक्षाद्-ब्रह्म' ऐसा साक्षात् अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष बताया है। इससे सिद्ध होता है कि जब ब्रह्म-चैतन्य विषयाकार-मनोवृत्ति से अवच्छिन्न, अर्थात् युक्त होकर आविर्भूत होता है, उसी समय वह ज्ञानशब्द का वाच्य कहा जाता है, यही श्रौत दर्शनों का सिद्धान्त है। जब वही ज्ञानविषय चैतन्य से भिन्न प्रकार से आविर्भूत होता है, तब 'परोक्ष' कहा जाता है, और इससे भिन्न 'प्रत्यक्ष'।

इसका रहस्य यह है कि लोक में जो 'अयं घटः' इस आकार का प्रत्यक्ष होता है, वहाँ विषय-देश में मन के गमन होने के कारण वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का

विषयचैतन्य से भिन्न अविर्भाव नहीं होता, और शास्त्रीय आत्म प्रत्यक्ष में तो द्रष्टा और दृश्य का भी भेद भासित नहीं होता है। इसलिए, ब्रह्म-चैतन्य और विषय-चैतन्य में कुछ भी भेद नहीं रहता। यही—'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म'—इस श्रुति का तात्पर्य है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मस्वरूप जो ज्ञान है, वही निर्विकल्पक है। लौकिक और शास्त्रीय निर्विकल्पक में इतना ही भेद है कि लोक में 'इदंकिञ्चित्' इस निर्विकल्पक ज्ञान में दृश्यगत विशेषता का भान नहीं होता, और शास्त्रीय निर्विकल्पक जो आत्मप्रत्यक्ष है, उसमें दृश्य और द्रष्टा—उभयगत भेद का भी भान नहीं होता। इसलिए, आत्म-साक्षात्कार को निर्विकल्पकतर कह सकते हैं।

## पाश-विमोक का स्वरूप

उदाहृत श्रुतियों में निर्दिष्ट आत्म-विज्ञान का स्वरूप यथासम्भव संक्षेप में दिखाया गया, अब क्रमप्राप्त पाश-विमोक ( बन्धनमुक्ति ) के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया जाता है। बन्ध के साधन का ही नाम 'पाश' है और शरीर के साथ सम्बन्ध का नाम 'बन्ध'। बन्ध का मूल अविद्या-ग्रन्थि है और वह कर्म से सम्पादित किया जाता है। नाम और रूपात्मक कार्य-कारण के संघात को 'शरीर' कहते हैं।

बुभुक्षा, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु, जन्म, तृष्णा, भय, सुख और दुःख इत्यादि जितने शरीर के धर्म प्रतीत होते हैं, वे सभी बन्धमूलक ही हैं। बन्ध को ही मृत्यु-मुख कहते हैं। यह मोक्षप्रतिपादक श्रुतियों के ऊपर ध्यान देने से स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। अविद्या ही मुख्य पाश है, यह भी सिद्ध है। तन्मूलक जितने शरीर आदि हैं, सभी अविद्या-जन्य होने से ही पाश कहे जाते हैं। उसी अविद्या-रूपी पाश का जो वियोग है, उसीको पाशविमोक, पाशहानि, पाशविमोचन इत्यादि शब्दों से अभिहित किया जाता है। इसका तात्पर्य अशरीरत्व-स्थिति है।

अब आत्मसाक्षात्कार से शरीरत्व की निवृत्ति किस प्रकार होती है, इसका निर्देश किया जाता है। 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः' इस श्रुति में आत्म-साक्षात्कार से समस्त भूतों का आत्मस्वरूप हो जाना बताया गया है। यहाँ भूत शब्द से पञ्चभूतमय जड़-प्रपञ्च का ही ग्रहण होता है। अब यहाँ आशङ्का यही होती है कि आत्मसाक्षात्कार से जड़-प्रपञ्च आत्मस्वरूप किस प्रकार हो सकता; क्योंकि ज्ञान मात्र से अन्य का अन्य रूप हो जाना असम्भव है। विज्ञान से अन्य की अन्यरूपता यदि न मानें, तो श्रुति से विरोध हो जाता है; इसलिए प्रपञ्च आत्मा का ही विवर्त्त है। इस प्रकार विवर्त्तवाद को अगत्या स्वीकार करना ही पड़ता है। यदि विवर्त्तवाद का आश्रय लेते हैं, तो शङ्का का अवकाश ही नहीं होता; क्योंकि जिस प्रकार रज्जु में विवर्त्तमान जो सर्प है, वह रज्जु के साक्षात्कार होने से रज्जुरूप ही हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा का विवर्त्त जो चेतनाचेतनात्मक अखिल प्रपञ्च है, वह भी आत्मसाक्षात्कार से आत्मस्वरूप ही हो जाता है, यह स्वयंसिद्ध है। यदि भूत-मात्र आत्मस्वरूप हो जाता है, तो भूतमय शरीर का भान, आत्मज्ञान के बाद शरीरत्वेन

आत्मा से पृथक् किस प्रकार हो सकता है ? इससे आत्मसाक्षात्कार के बाद अशशीरत्व की स्थिति सिद्ध हो जाती है, और यही पाशविमोचन है।

## आत्मस्वरूप-सम्पत्ति

अब पूर्वोक्त श्रुतियों में जो आत्मस्वरूप-सम्पत्ति का निदेश है, उसकी मीमांसा की जाती है—'यस्तु विज्ञानवान् भवति', इस श्रुति में बताया गया है कि आत्म-साक्षात्कारवाला पुरुष उस स्थान को प्राप्त करता है, जिससे पुनर्जन्म नहीं होता। वह स्थान-विशेष कैसा है ? इस जिज्ञासा में, 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इस मुण्डक श्रुति के साथ एकवाक्यता करने से दिव्य पुरुष-रूप ही स्थान-विशेष प्रतीत होता है। अब यह प्रश्न उठता है कि उस दिव्यपुरुष की प्राप्ति जो होती है, वह भेदेन प्राप्ति होती है, या अभेदेन ? सब श्रुतियों के समन्वयात्मक विचार करने से इसका समाधान यही होता है कि अभेदेन प्राप्ति होती है। भेदेन प्राप्ति मानने में बहुत श्रुतियों का विरोध हो जाता है। जैसे—

'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत्', 'एवमात्मा भवति', 'ब्रह्मैव भवति', 'स तदभवत्', 'स इदं सर्वं भवति', 'परमेव भवति', 'सर्वमात्मैवाभूत्' इत्यादि अनेक श्रुतियाँ उक्त अभेद को ही पुष्ट करती हैं। इसके अतिरिक्त एव शब्द से भेद का निषेध भी करती हैं।

यहाँ यह आशङ्का होती है कि आत्मसाक्षात्कारवाला पुरुष यदि सर्वात्मक, अर्थात् सर्वस्वरूप हो जाता है, तो—'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह। ब्रह्मणा विपश्चिता' ( तै० २।१।१ )—मोक्षप्रतिपादक इस श्रुति में, मोक्षावस्था में जो सब कामनाओं की प्राप्ति बताई गई है, उसकी संगति किस प्रकार हो सकती है ? क्योंकि, उस अवस्था में ज्ञानियों से भिन्न कोई भी पदार्थ या ब्रह्म भी नहीं रह जाता, जिसकी प्राप्ति सम्भावित हो। इसका उत्तर यह होता है कि—'सर्वान् कामान् अश्नुते'—श्रुति में बताया गया है, जिसका अर्थ सब कामनाओं का उपभोग या प्राप्ति लोग समझते हैं। 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः'—इस श्रुति, जो मोक्ष अवस्था का ही प्रतिपादन करती है, में उसी अवस्था में सब कामनाओं का विमोचन बताया गया है। इन दोनों श्रुतियों में परस्पर भासमान जो विरोध है, उसका परिहार पहले करना आवश्यक है, जिससे उक्त शंका का भी परिहार स्वयं हो जाता है। विरोध-परिहार के लिए श्रुति में उक्त प्रत्येक पद के ऊपर ध्यान देना होगा।

'कामा येऽस्य हृदि श्रिताः'—श्रुति में 'हृदि श्रिताः' इस पद से, और 'सोश्नुते सर्वान् कामान्'—इत्यादि श्रुति में 'ब्रह्मणा' इस पद से विरोध का परिहार स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। 'हृदि श्रिताः कामाः' का तात्पर्य है—मनोगत कामनाएँ। इससे श्रुति का तात्पर्य है कि ये वस्तुएँ मुझे प्राप्त हों, इस प्रकार की जो मनोगत कामनाएँ हैं, उनका समूल नाश या अत्यन्तनाश-रूप प्रमोचन होता है और मनोगत कामनाओं से भिन्न बाहर की कामनाएँ हैं, उनका ब्रह्म-रूप से व्यापन के अर्थ में दोनों श्रुतियों का सामञ्जस्य है। कुछ कामनाओं का विमोचन और कुछ कामनाओं का स्वीकार,

इस प्रकार अर्थ करके श्रुतियों के विरोध का जो परिहार किया जाता है, वह युक्त नहीं प्रतीत होता। कारण यह है कि 'कामाः' और 'कामान्' का विशेषण दोनों में 'सर्वे' और सर्वान्' दिया है, जिसका 'समस्त कामनाएँ' ऐसा तात्पर्य होता है।

## श्रुति का अर्थ

सह शब्द का अर्थ साहित्य होता है, और वह साहित्य नित्य साकांक्ष है—'केन कस्य साहित्यम्', अर्थात् किसके साथ किसका साहित्य। यदि 'केन' इस आकांक्षा की पूर्त्ति 'ब्रह्मणा' के साथ करें, तो युक्त नहीं होता है। कारण यह है कि श्रुति में 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह' यह एक वाक्य है, और 'ब्रह्मणा विपश्चिता' यह दूसरा। इसी प्रकार साम्प्रदायिक पाठ है। और, वाक्यान्तर में प्रयुक्त जो नित्य साकांक्ष पद है, उसकी पूर्त्ति, वाक्यान्तर में प्रयुक्त शब्द से करना, विना किसी विशेष कारण के अयुक्त या अनुचित समझा जाता है।

इसलिए, कामनाओं में ही एक कामना के दूसरे कामना के साथ परस्पर साहित्य का ग्रहण किया जाता है, जिसका युगपत् अर्थात् एक काल में या साथ-साथ अर्थ होता है। जैसे, 'सर्वे सहैव समुपस्थिताः' (सब लोग एक ही बार या साथ-साथ उपस्थित हुए) इस वाक्य में होता है। इसीसे 'कस्य' इस आकांक्षा की भी पूर्त्ति हो जाती है। इसका फलितार्थ यह होता है कि ज्ञानियों का सब कामनाओं के साथ एक काल में सम्बन्ध हो जाता है। यहाँ एक बात और भी ज्ञातव्य है कि कामनाओं के साथ सम्बन्ध का नाम कामनाओं की प्राप्ति नहीं है, वल्कि कामनाओं की व्याप्ति है। कारण यह है कि श्रुति में 'अश्नुते' यह जो पाठ है, उसमें 'अशू व्याप्तौ संघाते च' इस व्याप्ति अर्थ में पठित स्वादिगण के धातु का ही प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ, 'व्याप्नोति' होता है, 'प्राप्नोति' नहीं।

अब ज्ञानियों का शब्द, स्पर्श, रूप आदि अखिल कामनाओं की व्याप्ति किस प्रकार होती है? इस आकांक्षा की पूर्त्ति के लिए दूसरे वाक्य में आता है—'ब्रह्मणा'। अर्थात्, ब्रह्म रूप से ही अखिल कामनाओं को व्याप्त करता है। ब्रह्म कैसा है? इस आकांक्षा का उत्तर—ब्रह्म के विशेषण 'विपश्चिता' पद से देते हैं। विपश्चिता का अर्थ है—वि-विशेषेण पश्यत्—देखता हुआ चित्-चैतन्य। अर्थात्, स्वयं प्रकाशमान ज्ञान ही इसकी विशेषता है। तात्पर्य यह है कि आन्तर जो सूक्ष्म चित् अर्थात् ज्ञान है, उसी से सब शब्द आदि विषयों को वह देखता है, बाह्य रूप से नहीं। भावार्थ यही होता है कि ज्ञानी स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, और ब्रह्म-रूप से ही अखिल प्रपञ्च को व्याप्त करता है। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'—इस श्रुति में जो कहा गया है, वही 'सोऽश्नुते' इत्यादि श्रुति में भी पर्याय से वर्णित है।

## साम्य का उपपादन

अब यहाँ एक आशङ्का और होती है कि 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'—इस श्रुति में साम्य का प्रतिपादन किया गया है, और साम्य-भेद घटित होता है। इस स्थिति में आत्मा का एकत्व प्रतिपादन करनेवाली श्रुति विरुद्ध हो जाती है। इसका उत्तर

यह होता है कि साम्य भेद-घटित ही होता है, इस प्रकार का कोई नियम नहीं है। कहीं भेद-घटित और कहीं भेदाघटित, दोनों प्रकार का साम्य होता है। यहाँ 'आत्मैवाभूत्' इत्यादि उदाहृत अनेक श्रुतियों की एकवाक्यता से सामञ्जस्य के लिए भेद से अघटित साम्य का ही ग्रहण किया जाता है, भेद-घटित साम्य का नहीं। भेदाघटित साम्य को वैयाकरणों ने भी 'इव' शब्द के अर्थ-निरूपण के प्रसङ्ग में स्वीकार किया ही है। इसी के अनुसार आलङ्कारिकों ने भी ऐसे स्थलों में अनन्वयालङ्कार का उदाहरण दिया है—'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' इत्यादि। एक बात और है, 'परमं साम्यम्' में जो साम्य का विशेषण 'परमं' दिया है, उसका अर्थ अत्यन्त साम्य ही होता है और अपना अत्यन्त साम्य अपने साथ ही हो सकता है, दूसरे के साथ नहीं। यदि भेद-घटित साम्य को ही मान लें, तो किस धर्म से साम्य लिया जाय, इस प्रकार विशेष जिज्ञासा होती है। यदि इस जिज्ञासा के परिहार के लिए सुखातिशय-रूप विशेष धर्म को मानें, तो सुख के साधक पुण्यकर्म को मानना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि, सुख का कारण पुण्यकर्म ही होता है। यहाँ श्रुति में आया है—'पुण्यपापे विधूय', अर्थात् समस्त पुण्य-पाप को नष्ट कर साम्य को प्राप्त करता है। दूसरी बात यह है कि श्रुति में 'निरञ्जनः' यह विशेषण दिया है, जिसका अर्थ होता है, किसी प्रकार के सम्बन्ध से रहित होना। जिसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है, उसका किसी भी धर्म से साम्य नहीं कह सकते। इसलिए, श्रुति का यही तात्पर्य सिद्ध हो सकता है कि आत्मसाक्षात्कारवाला पुरुष, पुण्य और पाप, दोनों प्रकार के कर्मों का त्याग कर कर्मजन्य शरीर आदि सम्बन्ध से रहित हो, अपने ही साथ साम्य को प्राप्त करता है; अर्थात् उपमारहित हो जाता है।

## शोकादि-राहित्य का विचार

अब शोकादि-राहित्य का विचार किया जाता है। यहाँ आदि पद से मोह, भय, जन्म, मरण, सुख, दुःख का ग्रहण समझना चाहिए। उक्त श्रुतियों में इन्हीं का अभाव कहा गया है। इन्हीं की समष्टि का नाम संसार है। 'प्रियाऽप्रिये न स्पृशतः'—इस श्रुति में प्रिय और अप्रिय शब्द से सुख, दुःख का ही ग्रहण किया जाता है। सुख का नाम प्रिय और दुःख का अप्रिय है। शब्द, अर्थ आदि जो विषय हैं, वे स्वरूप से ही प्रिय नहीं हैं, किन्तु सुख के जनक होने के कारण ही प्रिय कहे जाते हैं। इसलिए, शब्द आदि विषय प्रिय शब्द के वाच्य नहीं होते। इससे मुक्ति में जिस प्रकार दुःख का अभाव होता है, उसी प्रकार सुख का भी अभाव होता है। द्वैतवादियों के मत में अप्रिय के निषेध में ही श्रुति का तात्पर्य माना जाता है, प्रिय के निषेध में नहीं। बल्कि, उनका कहना है कि सुखातिशय की प्रतीति मुक्ति में होती है। परन्तु, यह श्रुति के अक्षरार्थ से विरुद्ध हो जाता है। 'न प्रियाऽप्रिये स्पृशतः' इस द्वन्द्व-निर्देश से अप्रिय के साथ प्रिय के निषेध में भी श्रुति का तात्पर्य स्पष्ट प्रतीत होता है। एक बात और है कि प्रिय और अप्रिय के स्पर्श का कारण शरीर का सम्बन्ध ही है, और शरीर के साथ सम्बन्ध छूट जाने पर अप्रिय स्पर्श के सदृश ही प्रिय स्पर्श के निषेध में भी श्रुति का

तात्पर्य सिद्ध हो जाता है। 'कारणाभावात् कार्याभावः'—कारण के अभाव में कार्य नहीं होता, यह सिद्धान्त सर्वमान्य है। इस स्थिति में प्रिय और अप्रिय दोनों के निषेध में ही श्रुति का तात्पर्य सिद्ध होता है।

## आत्म-विज्ञान आदि में क्रम

'ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात् पाशं दहति पण्डितः'—इस श्रुति में पञ्चम्यन्तनिर्देश से आत्म-विज्ञान और पाश-विमोचन में हेतुहेतुमद्भाव अर्थ सूचित होता है। अर्थात्, आत्म-विज्ञान कारण और पाश-विमोचन कार्य है। अन्य श्रुतियों में भी 'दृष्टे', 'ज्ञात्वा', 'विजानतः', 'निचाय्य' इत्यादि हेतुगर्भित शब्दों से भी उक्त ही अर्थ प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'नामरूपाद्विमुक्तः', 'परात्परं पुरुषमुपैति', 'पुण्यपापे विधूय', 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इत्यादि स्थलों में पाश-विमोचन और आत्मस्वरूप-सम्पत्ति में हेतुहेतुमद्भाव प्रतीत होता है। इसी प्रकार, आत्मस्वरूप-सम्पत्ति और शोकादि-राहित्य में भी हेतुहेतुमद्भाव, सूचित होता है। 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः'—इससे भी हेतुहेतुमद्भाव, सूचित होता है। यद्यपि यह नियम है कि जिस पदार्थ में हेतुहेतुमद्भाव रहता है, उसमें क्रम अवश्य रहता है, तथापि यहाँ क्रम विद्यमान रहता हुआ भी लक्षित नहीं होता है। क्योंकि, यहाँ कारण कार्य को इतना शीघ्र उत्पन्न करता है कि क्रम रहता हुआ भी वह प्रतीत नहीं होता। इसी अभिप्राय से 'आत्मैवाभूद्विजानतः' श्रुति में, 'विजानतः' शब्द में वर्त्तमान काल का द्योतक शतृप्रत्ययान्त का निर्देश किया है। इसका फलितार्थ यही होता है कि आत्म-विज्ञान, अविद्या, काम, कार्य, शरीर आदि पाशों के विमोचन द्वारा आत्मस्वरूपता का अनुभव कराकर शोक-मोहादि से विमुक्त कर देता है। यही मोक्ष-पदार्थ श्रुति-सम्मत होता है। शंकराचार्य ने इसी को अपने दर्शन में सिद्ध किया है।

## मोक्ष में कर्म के सम्बन्ध का निषेध

बहुत लोगों ने मोक्ष को कर्मजन्य और मोक्षावस्था में भी कर्म-सम्बन्ध माना है, परन्तु यह श्रौत सिद्धान्त नहीं है; क्योंकि पूर्वोक्त अनेक श्रुतियों से विरोध हो जाता है। यहाँ तक कि 'न कर्मणा न प्रजया धनेन'—इत्यादि श्रुति से अमृतत्व-प्राप्ति में कर्मजन्यत्व का निषेध भी किया है। 'नास्त्यकृतः कृतेन'—इस श्रुति का भी मोक्ष के कर्मजन्यत्व के निषेध में ही तात्पर्य है। इसी प्रकार, 'न कर्म लिप्यते नरे', 'हन्ति कर्म शुभाऽशुभम्', 'सर्वाणि कर्माणि दग्ध्वा'—इत्यादि अनेक श्रुतियों से मोक्ष में कर्म-सम्बन्ध का निषेध भी किया गया है। और भी बन्धप्रतिपादक श्रुतियों की समालोचना करने से मोक्ष में कर्म-सम्बन्ध का अभाव ही सिद्ध होता है। बन्ध और मोक्ष, दोनों परस्पर-विरोधी और प्रतिद्वन्द्वी पदार्थ हैं। इस अवस्था में जिस प्रकार परस्परविरुद्ध दो पदार्थों में एक के स्वरूप का निर्णय कर लेने पर दूसरे का स्वरूप-निर्णय उसके विपरीत अर्थात् असिद्ध हो जाता है, उसी प्रकार बन्ध-प्रतिपादक श्रुतियों से बन्ध के स्वरूप का निर्णय करने पर, मोक्ष का स्वरूप उसके विरुद्ध अर्थात् सिद्ध हो जाता है। बन्ध-प्रतिपादक श्रुतियों में तो कर्म को बन्ध का अव्यभिचारी बताया गया है, अर्थात्

जहाँ कर्म है, वहाँ बन्ध अवश्य है; और जहाँ बन्ध है, वहाँ कर्म भी अवश्य है। 'न ह्यस्य कर्म क्षीयते' (बृ० १।४।१५); 'तदेव सक्तः सह कर्मणैति' (बृ० ४।४।६); 'पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे'; 'पुण्यो ह्वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन' (बृ० ३।२।१३); 'एष ह्येव साधु कर्मकारयतितं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते' (कौ० ३।८)—इन सब श्रुतियों की समालोचना से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि बन्ध और कर्म दोनों परस्पर अव्यभिचरित हैं, अर्थात् एक के बिना एक नहीं रह सकता। इसलिए, पूर्वोक्त मोक्ष ही श्रुति-सम्मत होने से श्रौत और युक्त भी है। श्रुति को माननेवाला कोई भी इसको अन्यथा नहीं समझ सकता।

## शङ्कराचार्य के अद्वैत दर्शन का श्रौतत्व

यह श्रुतियों के समन्वय का दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। इसी प्रकार, विवादग्रस्त और विषयों में भी सब श्रुतियों को यथागति एकत्र कर—उनके परम प्रतीयमान, सरल, मुख्य अर्थों का त्याग न कर—एकवाक्यतया समन्वयात्मक विचार करने से शाङ्कर दर्शन का जो सिद्धान्त है, वही श्रौततर और सबसे उच्च स्तर का प्रतीत होता है। यद्यपि शाङ्कर दर्शन में भी कितने सिद्धान्त युक्तिविरुद्ध प्रतीत होते हैं, तथापि सूक्ष्म विचार करने पर विरोध का लेश भी नहीं रह जाता। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि श्रौतों के तत्त्वावधारण के समय श्रुति के सामने युक्ति का कुछ भी आदर नहीं है, बल्कि उस समय युक्ति में औदासीन्य ही रहता है। यही श्रौतों का श्रौतत्व भी है, यह पहले भी बता चुके हैं। एक बात और भी समझने योग्य है कि—'पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' (श्वे० ३।१९) इत्यादि वर्णन युक्ति के सर्वथा विरुद्ध हैं, तो भी द्वैतवादियों ने भी युक्ति में उदासीन होकर स्वाभाविक ही परमात्मा में द्रष्टृत्व माना है, यही उनका श्रौतत्व है। रामानुजाचार्य ने भी श्रीभाष्य में लिखा है—'नहि परमात्मनः करणायत्तद्रष्टृत्वादिकम्, अपितु स्वभावत एव।' (श्रीभाष्य, ब० सू० १।२।१९) अर्थात् परमात्मा का जो द्रष्टृत्व, श्रोतृत्व आदि गुण हैं, वे इन्द्रियों के अधीन नहीं हैं, किन्तु स्वाभाविक ही हैं! इस प्रकार उपर्युक्त विषयों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि शङ्कराचार्य का अद्वैतदर्शन श्रौततर है।

## अविद्या का विचार

शाङ्कर दर्शन में परमार्थभूत सत्य (पदार्थ) परमात्मा ही है। वही आत्मा ब्रह्म है। वही आत्मा दृक्‌रूप अर्थात् द्रष्टा है। चित् और ज्ञान शब्द का भी वही वाच्य है। वह किसी प्रकार की विशेषता से शून्य अर्थात् निर्विशेष है। वह इस प्रकार का है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह अचिन्त्य होने से मन का भी अविषय है। उसी परमात्मा की शक्ति मायापदवाच्य अविद्या है। सत्त्व, रज और तमोमय जगत् का मूल कारण वही अविद्या है। यह आत्मशक्ति (अविद्या) पारमार्थिक सत्य न होने के कारण असत्स्वरूपा और व्यावहारिक सत्य होने से सत्स्वरूपा भी है। उभयात्मक होने के कारण ही अनिर्वचनीय भी कही जाती है। चित् के साथ इसका सम्बन्ध तीन प्रकार का होता है। जिस प्रकार आकाशतत्त्व काठ, ढेला,

मिट्टी आदि के भीतर और बाहर सर्वत्र व्याप्त है, उसी प्रकार वह चित् भी अविद्या के भीतर और बाहर सर्वत्र व्याप्त है। अविद्या में सर्वावयव से चित् की व्याप्ति होने से अविद्या के कार्य सकल पृथिवी आदि मूर्त्त पदार्थों में और बुद्धि आदि अमूर्त्त पदार्थों में चित् की व्याप्ति सिद्ध हो जाती है। यह एक प्रकार का सम्बन्ध हुआ। जिस प्रकार, स्फटिक स्वच्छ होने के कारण समीप वस्तु में रहनेवाली रक्तिमा को ग्रहण करता है, उसी प्रकार यह अविद्या भी अन्ततः गुणत्रय के बीजभूत होने पर भी स्वरूपतः स्वच्छ ही है, इसलिए चित् को ग्रहण करती है। यही चिदाभास कहा जाता है। यह द्वितीय प्रकार है। जिस प्रकार दर्पण अपने सामने वर्त्तमान मुख आदि के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है, उसी प्रकार यह अविद्या भी चित् के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती है, और प्रतिबिम्बित जो चित् है, उसका भी चिदाभास शब्द से व्यवहार किया जाता है। यह तीसरा प्रकार है।

## ईश्वर और जीव

इन तीन प्रकारों में, प्रथम प्रकार से, चित् की व्याप्ति, जिस प्रकार समष्टिभूत अविद्या में रहती है, उसी प्रकार व्यष्टिभूत अविद्या और उसके कार्यभूत पृथिवी आदि मूर्त्त पदार्थों और बुद्धि आदि अमूर्त्त पदार्थों में भी वह रहती है। जिस प्रकार, आकाश की व्याप्ति मृत्-समूह में, मृत्-खण्ड में और उसके कार्यभूत घट-शराव आदि निखिल प्रपञ्च में सर्वत्र सर्वदा रहती है एवं द्वितीय और तृतीय प्रकार से होनेवाला चित् के साथ अविद्या का जो सम्बन्ध है, वह स्वच्छ वस्तु में ही होता है। जिस प्रकार, स्वच्छ स्फटिक आदि मणियाँ समीपस्थ वस्तुओं की रक्तिमा का ग्रहण करती हैं, अस्वच्छ मृत्तिका आदि नहीं, उसी प्रकार दर्पण आदि ही प्रतिबिम्ब को ग्रहण करते हैं, काष्ठ आदि नहीं। प्रथम प्रकार से, आकाश की तरह चित् की व्याप्ति स्वच्छ और अस्वच्छ सकल पदार्थों में है। एक बात और भी है कि प्रथम या द्वितीय प्रकार से चित् का अविद्या से जो सम्बन्ध है, उससे बुद्धि आदि में प्रतीयमान जो चिदाभास या चित्प्रतिबिम्ब है, उसमें भी प्रथम प्रकार से पुनः चित् की व्याप्ति रहती ही है। इस अवस्था में यह सिद्ध होता है कि जिस प्रकार बुद्धि चित् से अवच्छिन्न रहती है, उसी प्रकार चिदाभास या चित्प्रतिबिम्ब से भी। यही बात 'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरः' ( बृ० उ० ३।७।११ ) इस घटक श्रुति से बोधित होती है।

आभास और प्रतिबिम्ब में बहुत कम अन्तर है। परन्तु, बुद्धि से अवच्छिन्न जो चित् है, उससे आभास और प्रतिबिम्ब में इस प्रकार अन्तर देखा जाता है—जिस प्रकार आकाश का काम अवकाश देना है। घटाकाश भी अवकाश देने का काम करता ही है। अवकाश देने में घटाकाश घट की अपेक्षा नहीं करता, उसी प्रकार उस शक्ति से अवच्छिन्न चित् भी शुद्ध चित् के कार्य का सम्पादन करता है, घटाकाश की तरह अपनी उपाधि की अपेक्षा नहीं करता। यही माया-समष्टि से अवच्छिन्न जो चित् है, वह ईश्वर-पद का वाच्य होता है। यह ईश्वर, माया के कार्य सत्त्व, रज और तम में सत्त्व गुण की उपाधि से युक्त होने से हरि, रजोगुण की

उपाधि से युक्त होने से ब्रह्मा और तमोगुण की उपाधि से युक्त होने से शंकर, इन तीन रूपों को धारण करता है। इन तीनों में वर्त्तमान जो सत्त्व, रज और तम हैं, ये बिलकुल विशुद्ध नहीं हैं, किन्तु अपने से भिन्न दोनों गुणों से अंशतः मिश्रित हैं। ये हरि, हर और हिरण्य-गर्भ भी ईश्वर से उपाधिवशात् भिन्न होने पर भी वस्तुतः अभिन्न ही हैं, जैसे मठान्तवर्त्ती घटाकाश मठाकाश से अभिन्न होता है। इसीलिए, इन तीनों को भी ईश्वर कहा जाता है। इसी प्रकार व्यष्टिभूत अविद्या में प्रतिबिम्बित जो चित् है, वह जीव-पद का वाच्य होता है। जिस प्रकार, दर्पण में स्थित प्रतिबिम्ब दर्पण का अनुसारी होता है, अर्थात् प्रतिबिम्ब दर्पण के निश्चल रहने पर निश्चल रहता है और दर्पण के चञ्चल रहने पर चञ्चल। दर्पण में जो मलिनता आदि हैं, उनसे भी वह प्रभावित होता है। इससे जीव और ईश्वर, दोनों का औपाधिक होना सिद्ध होता है। भेद केवल इतना ही है कि जीव उपाधिभूत अविद्या के अधीन है और ईश्वर स्वतन्त्र है, माया के वश नहीं। 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव', तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय' ( बृ० उ० २।५।१६ ); 'मायाभासेन जीवेशौ करोति' ( नृ० ता० उ० ) इत्यादि अनेक श्रुतियाँ इसी सत्य को प्रतिपादित करती हैं। जो माया विशुद्ध चित् को भी अपने सम्बन्ध-मात्र से विभक्त कर जीव, ईश्वर आदि अनेक रूपों में दिखाई देती है, वह और उसका सम्बन्ध दोनों अनादि माने जाते हैं। सभी दर्शनकार अपने-अपने मत के अनुसार मूल कारण को अनादि स्वीकार करते हैं, इस कारण छह पदार्थ अनादि माने जाते हैं—जीव, ईश, विशुद्ध चित्, जीव और ईश्वर का भेद, अविद्या और उसके साथ चित् का योग। इसीको संक्षेपशारीरक में इस प्रकार लिखा है—

**'जीव ईशो विशुद्धो चित् तथा जीवेशयोर्भिदा।**
**अविद्या तच्चितेर्योगः षडस्माकमनादयः॥'**

माया का चित् से जो सम्बन्ध है, वह मायिक अर्थात् माया-परिकल्पित ही है, जिस प्रकार शुक्ति में रजत। चिदात्मा में जो माया का अध्यास है, वही अनादि है, और जितने अध्यास हैं, सब सादि हैं।

## अध्यास का स्वरूप

अध्यास किस प्रकार होता है, इसका संक्षेप में निर्देश किया जाता है। सर्वप्रथम शुद्ध चिदात्मा में अनादि माया का अध्यास होता है, इसके बाद अध्यास-विशिष्ट चिदात्मा में माया के परिणामीभूत अहङ्कार का अध्यास होता है। केवल शुद्ध चिदात्मा में अहंकार का अध्यास नहीं होता; क्योंकि वह ( शुद्ध चिदात्मा ) स्वयं प्रकाश है। इसीलिए, तद्विषयक अज्ञान नहीं हो सकता, किसी रूप से अज्ञात जो वस्तु है, वही अध्यास का अधिष्ठान हो सकती है। प्रथम अध्यास तो अनादि है, इसलिए उसमें अज्ञान की अपेक्षा नहीं होती। अहङ्कार के अध्यास से विशिष्ट जो चिदात्मा है, उसमें अहङ्कार के धर्म जो काम, संकल्प आदि हैं, और इन्द्रिय के धर्म जो काणत्व आदि हैं, उनका अध्यास होता है। 'अहमिच्छामि', 'अहं काणः',

इस प्रकार की प्रतीति सर्वानुभवसिद्ध है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिस चिदात्मा में अहंकार का अध्यास नहीं होता, उसमें इन्द्रियों के धर्म जो काम, संकल्प आदि हैं, उनका भी अध्यास नहीं हो सकता; किन्तु अध्यस्ताहंकार-विशिष्ट में ही काम आदि का अध्यास हो सकता है। अहंकार के अध्यास से विशिष्ट उसी चिदात्मा में इन्द्रिय के धर्मों का भी अध्यास होता है। इन्द्रियाध्यासविशिष्ट चिदात्मा में इन्द्रिय के धर्मों का अध्यास नहीं हो सकता। क्योंकि, 'अहं चक्षुः' ( मैं आँख हूँ ) इस प्रकार की प्रतीति किसी को नहीं होती।

एक बात और भी है कि, समीप रहनेवाली सभी वस्तुओं का अध्यास अवश्य होता ही है, इस प्रकार का यदि कोई नियम रहता, तब तो किसी प्रकार मानना ही होता, परन्तु ऐसा नहीं है; क्योंकि प्रतीति के अनुसार ही अध्यास होता है, अन्यथा नहीं। यदि 'चक्षुरहम्' इस प्रकार की प्रतीति होती, तो इन्द्रियों का भी अध्यास समझा जाता, परन्तु ऐसी प्रतीति नहीं होती है।

यहाँ एक शङ्का होती है कि यदि इन्द्रियों का अध्यास न मानें, तो इन्द्रियों के धर्मों का अध्यास किस प्रकार हो सकता है? इसका उत्तर यही है कि इन्द्रियों का कहीं अध्यास नहीं होता है, यह बात तो नहीं है, वरन् केवल अहंकाराध्यासविशिष्ट चिदात्मा में इन्द्रियों का अध्यास नहीं होता है, यही तात्पर्य है। मायाध्यासविशिष्ट चिदात्मा में तो इन्द्रियों का अध्यास होता ही है; क्योंकि 'चक्षुषा पश्यामि' ( आँख से देखता हूँ ), इस प्रकार का व्यवहार लोक में प्रसिद्ध है, और यह प्रतीति घट, पट आदि के समान अध्यस्त इन्द्रियों को ही हो सकती है; क्योंकि भूत और भौतिक एकताप्रपञ्च चिदात्मा में ही कल्पित हैं और अहंकाराध्यासविशिष्ट जो चिदात्मा है, उसी में मनुष्यादिवैशिष्ट्य से देह का अध्यास होता है; क्योंकि 'अहं मनुष्यः, इस प्रकार की प्रतीति लोक में अनुभूत है। एक बात और है कि देह का भी सामान्य रूप से अध्यास नहीं होता है; क्योंकि, 'देहोऽहम्' ( मैं देह हूँ ), इस प्रकार सामान्यतः प्रतीति नहीं होती। और भी, मनुष्यादि के अध्यास से विशिष्ट जो चिदात्मा है, उसमें स्थूलत्वादि देह-धर्मों और पुत्र, भार्या आदि धर्मों का अध्यास होता ही है; क्योंकि 'अहं स्थूलः' ( मैं मोटा हूँ ), ऐसी प्रतीति होती है, और पुत्र के पूजित होने पर मैं ही पूजित हुआ, इस प्रकार का भी व्यवहार लोक में देखा जाता है।

एक बात और भी ध्यातव्य है कि 'इदं रजतम्' ( यह रजत है ) की प्रतीति से शुक्ति में जो रजत का अध्यास होता है, उस अध्यस्त रजत में शुक्तिगत जो इदन्त्व-धर्म है, उसका पुनः अध्यास होता है। इसी प्रकार, पूर्वोक्त सकल अध्यास-स्थलों में अध्यस्त जो माया प्रभृति हैं, उनका पुनः अध्यास होता है, इसी को 'अन्योन्याध्यास-ग्रन्थि' कहते हैं। जिस प्रकार, दो रज्जुओं के परस्पर जोड़ने से दृढ़ ग्रन्थि हो जाती है, उसी प्रकार अध्यास-स्थलों में भी अन्योन्याध्यास से दृढ़ ग्रन्थि हो जाती है।

इस प्रकार की अध्यास-परम्परा में भी शुद्ध चिदात्मा किसी प्रकार भी अशुद्ध ( दूषित ) नहीं होता है। कारण, अध्यास का जो अधिष्ठान है, उसका आरोपित

वस्तु के साथ किसी प्रकार भी स्पर्श वस्तुतः नहीं होता। इस पर आचार्यों ने भी कहा है—

**'नहि भूमिरूषरवती मृगतृड्जलवाहिनीं सरितमुद्वहति।**
**मृगवारिपूरपरिपूरवती न नदी तथोषरभुवं स्पृशति॥'**

तात्पर्य यह है कि ऊषर भूमि मृगतृष्णा-जल की वाहिनी सरिता का उद्वहन अर्थात् स्पर्श नहीं करती, और मृगमरीचिकारूपी जल से परिपूर्ण नदी भी ऊपर भूमि का स्पर्श नहीं करती, अर्थात् ऊषर भूमि और मृगतृष्णा-जल का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार, अनादि सम्बन्ध से चिदात्मा के साथ सम्बद्ध जो माया है, उसमें चिदात्मा, सूक्ष्म होने के कारण, भीतर प्रवेश करता हुआ और व्यापक होने के कारण उसके बाहर भी रहता हुआ परिलक्षित होता है। एवम्प्रकारेण माया से वस्तुतः असम्बद्ध चिदात्मा, माया-उपाधि से युक्त होने के कारण 'ईश्वर' कहा जाता है। केवल चिदात्मा में ईशितृत्व (शासनकर्तृत्व) होना सम्भव नहीं है; क्योंकि वह निर्लेप है। वह साक्षी होने के कारण मायाविशिष्ट भी नहीं हो सकता, प्रत्युत माया से असम्बद्ध ही रहता है। माया के जड़ होने से मायाविशिष्ट में साक्षित्व भी नहीं हो सकता है। इसलिए, चिदात्मा माया के सम्बन्ध से ईश्वर और माया से असम्बद्ध होने के कारण साक्षी भी कहा जाता है। माया भी चिदात्मा के सम्बन्ध से गुणवैषम्य के द्वारा परिणामोन्मुख होती है और गुणवैषम्य होने से ही अनेक प्रकार के परिणाम होते रहते हैं। कोई परिणाम रजोगुण और तमोगुण के अंशतः मिश्रण रहने से सत्त्व-प्रधान होता है, वही शुद्ध सत्त्व-प्रधान कहा जाता है, पुनः उस शुद्ध सत्त्व-प्रधान के भी परिणाम रजोगुण-तमोगुण के अंशतः सम्मिश्रण होने से सत्त्व-प्रधान ही होते हैं। किन्तु, यह मलिनसत्त्व-प्रधान कहा जाता है। इस प्रकार, मलिनसत्त्व-प्रधान प्रकृति के व्यष्टिभूत अनन्त प्रकार के सत्त्व-प्रधान ही प्रकृति के परिणाम होते हैं।

यहाँ यह भी समझना चाहिए कि सत्त्व-प्रधान व्यष्टिभूत प्रकृति के जो परिणाम हैं, उन्हीं में चित् का प्रतिबिम्ब पड़ता है। शुद्ध रजोगुण-तमोगुण-प्रधान अथवा मलिन रजोगुण-तमोगुण-प्रधान जो प्रकृति के परिणाम हैं, उनमें चित् का प्रतिबिम्ब कभी नहीं पड़ता; क्योंकि वे शुद्ध रजोगुण या तमोगुण-प्रधान होने के कारण अस्वच्छ होने से प्रतिबिम्ब के ग्रहण करने में असमर्थ होते हैं। और, सत्त्व-प्रधान-व्यष्टिभूत-प्रकृति-परिणामों के समूह में भी चित् का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है, जैसे अनेक दर्पणों के परस्पर सन्निहित होने पर भी मिलकर एक प्रतिबिम्ब के ग्रहण करने में उनका असामर्थ्य ही देखा जाता है। इसी व्यष्टिभूत मलिनसत्त्व-प्रधान-प्रकृति के अनन्त परिणामों में चित् के जो प्रतिबिम्ब हैं, वे ही जीव कहे जाते हैं। इसी बात को विद्यारण्यमुनि ने पञ्चदशी में दूसरे शब्दों में कहा है—शुद्ध सत्त्व-प्रधान-प्रकृति के परिणामों को माया, और मलिनसत्त्व-प्रधान-प्रकृति के परिणामों को अविद्या कहते हैं, एवं मायोपाधि से अवच्छिन्न चित् (चैतन्य) को ईश्वर और अविद्योपाधि से अवच्छिन्न चित् को जीव कहते हैं। इन दोनों (ईश्वर और जीव) में

यह भी विशेषता है कि ईश्वर माया के वश में नहीं है, किन्तु माया ही ईश्वर के वश में रहती है, और जीव अविद्या के वश में रहता है—

**'सत्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते ।**
**मायाबिम्बौ वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः ॥**
**अविद्यावशगश्चैव तद्वैचित्र्यादनेकधा ॥'**—पंचदशी

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि दर्पण आदि उपाधि के विनाश होने से उसमें निहित प्रतिबिम्ब का भी विनाश देखा जाता है, इस स्थिति में अविद्या के नाश होने पर जीव का भी नाश अवश्यम्भावी है, इस अवस्था में जीव मुक्त हो गया, यह जो लोक-विख्यात व्यवहार है, वह नहीं बनता, और मोक्ष के लिए कोई यत्न भी नहीं कर सकता, कारण यह है कि कोई भी आदमी अपने विनाश के लिए यत्न नहीं करता।

इसका उत्तर यह होता है कि दर्पण आदि उपाधि से प्रतिबिम्ब नाम की किसी वस्तु का उत्पादन नहीं किया जाता, किन्तु बिम्ब को ही भिन्न रूप से दिखाया जाता है। इसलिए, उपाधि के विलय होने पर पृथक् प्रतिभास न होने के कारण जीव को मुक्त कहा जाता है, और जीव भी उपाधि के अधीन ही रहता है; क्योंकि प्रतिबिम्ब का नियमानुसार उपाधि के अधीन होना स्वाभाविक है।

## जीव और ईश्वर के स्वरूप

प्रकृति की समष्टि से अवच्छिन्न चैतन्य को ईश्वर और प्रकृति की व्यष्टि से अवच्छिन्न चैतन्य को जीव कहते हैं। इन दोनों में वास्तविक भेद नहीं है, किन्तु औपाधिक भेद है। वह भी इतना ही है कि ईश्वर उपाधि के अधीन नहीं है, और जीव उपाधि के अधीन है। इसलिए, यह ईश्वर, उपाधि का और उपाधि के वशीभूत जीवों का नियमन करने से ही ईश्वर कहा जाता है। 'क्षरात्मानावीशते देव एकः' (श्वेत० १।१०)—इस श्रुति का भी यही तात्पर्य है। श्रुति में क्षर शब्द का अर्थ उपाधि ही है। यह ईश्वर जिस प्रकार उपाधि से अवच्छिन्न है, उसी प्रकार उपाधि के वशीभूत या प्रतिबिम्बीभूत जीव से भी अवच्छिन्न रहता है। और, जिस प्रकार उपाधि के भीतर या बाहर वह व्याप्त है, उसी प्रकार प्रतिबिम्ब के भीतर और बाहर भी। यह परम सूक्ष्म होने से भीतर और व्यापक होने से बाहर भी व्याप्त रहता है। इस स्थिति में, 'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरः' यह घटक श्रुति भी विना विरोध के उपपन्न हो जाती है। द्वैतवादियों के मत में घटक श्रुति उपपन्न नहीं होती; क्योंकि इनके मत में जीव का स्वरूप अणु माना गया है और परमाणु के भीतर नहीं रहने से उसमें प्रवेश का होना असम्भव ही है। भेद-प्रतिपादक 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' (बृ० उ० २।४।५)—इत्यादि श्रुति भी उपपन्न हो जाती है। क्योंकि, जिस प्रकार जलावच्छिन्न आकाश और जलप्रतिबिम्बाकाश में औपाधिक भेद भी सिद्ध है, उसी प्रकार जीव और ईश्वर के औपाधिक भेद के प्रतिपादन करने में इस प्रकार की श्रुतियाँ चरितार्थ हो जाती हैं और उपाधि के विलय होने पर 'तत्त्वमसि' आदि अभेद प्रतिपादक श्रुतियों की भी उपपत्ति हो जाती है।

अब यहाँ यह सन्देह होता है कि सब श्रुतियों की उपपत्ति सिद्ध हो जाने पर भी परस्परविरुद्ध भेद, ऐक्य और घटक इन तीनों का वर्णन क्यों किया ? इसका उत्तर यही होता है कि वेदान्त-वाक्यों की प्रवृत्ति मुमुक्षु जनों के हित के लिए ही हुई है और मुमुक्षुओं का परमसाध्य जो मोक्ष है, उसी का उपपादन ऐक्यप्रतिपादक श्रुतियों से किया गया है। मोक्ष का साधनभूत जो परमात्म-दर्शन है, वह साधकों के भेददर्शी होने के कारण ही भेदप्रतिपादक श्रुतियों से वर्णित है। घटक श्रुति, आत्मदर्शन के मार्ग को बताती हुई कहती है—साधकों को चाहिए कि अन्तर्यामी होने के कारण परमात्मा का अनुसन्धान करे। श्रुति के अर्थों के ध्यानपूर्वक अध्ययन और मनन करने से उसका तात्पर्य स्पष्ट प्रतीत होता है कि पूर्वोक्त अर्थ ही युक्त है। इस प्रकार, जीव और परमात्मा के अभेद ( एकत्व ) सिद्ध हो जाने पर भी किसी का प्रश्न होता है कि यदि आत्मा में एकत्व-धर्म मानते हैं, तो आत्मा सविशेष हो जाता है, निर्विशेष नहीं रहता, जो शांकर मत का परम सिद्धान्त है। यदि एकत्व को न मानें, तब तो द्वैत गले पड़ जाता है, अद्वैत सिद्ध नहीं होता। इसका उत्तर यही होता है कि एकत्व कोई धर्मान्तर नहीं है, बल्कि द्वित्व का अभाव-रूप ही है। अर्थात्, वहाँ द्वित्व का सर्वथा अभाव है।

## ब्रह्म में श्रुति-प्रमाण की गति

'न जीवो म्रियते' ( छा० उ० ६।११।३ ); 'जीवः स विज्ञेयः' ( श्वेत० उ० ६ ) इत्यादि अनेक श्रुतियाँ जीव के विषय में प्रमाण हैं। इसी प्रकार, ईश्वर के विषय में भी 'ईश्वरः सर्वभूतानां' (म० ना० उ० १७।५); 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्' (श्वेत० उ० ६।७) इत्यादि श्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं। परन्तु, शुद्ध निर्विशेष और असङ्ग चिद्रूप ब्रह्म तो किसी प्रकार भी श्रुति का विषय नहीं हो सकता है और न अनुमान का ही। इस अवस्था में, उक्त ब्रह्म किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। कारण यह है कि निर्विशेष और असङ्ग मानने में वाच्य-वाचक-भाव-रूप सम्बन्ध भी उसमें नहीं होता, इस अवस्था में वाच्य-मर्यादा से श्रुति भी ब्रह्म के उपपादन में समर्थ नहीं होती। इस असामर्थ्य को 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते,' इत्यादि श्रुतियाँ भी स्वयं स्पष्ट रूप में स्वीकार करती हैं।

इतना होने पर भी मुमुक्षु-जनों के कल्याण के लिए बद्धपरिकर श्रुति भी किसी प्रकार निषेध-मुख से शुद्ध चिद्घन-रूप ब्रह्म का बोध कराने में सफल हो ही जाती है। जिस प्रकार नवोढा नायिका से उसकी सखी पूछती है कि इस जनसमूह में तुम्हारा पति कौन है ? उस समय वह नायिका लज्जा से कुछ भी नहीं बोलती। जब पुनः अंगुलि के निर्देश से पूछती है कि क्या वह लाल मुरेठा बाँधे तुम्हारा पति है ? तो वह कहती है, 'नेति', अर्थात् नहीं। फिर सखी पूछती है कि क्या वह हाथ में जो छड़ी लिये है, वह पति है ? उत्तर देती है—'नेति', इसी प्रकार जब सबके पूछने पर उसकी सखी यही उत्तर पाती है—'नेति नेति'। तब अन्त में उसके पति के ही ऊपर अंगुलि निर्देशकर पूछती है, इस पर वह नवोढा नायिका चुप हो जाती है, कुछ भी नहीं बोलती। इसी मौन उत्तर से वह चतुर सखी समझ लेती है कि यही इसका पति है।

ठीक इसी प्रकार, 'स एषः नेति नेति' (बृ० उ० ३।९।२६); 'अस्थूलम् अनणु' (बृ० उ० ३।८।८); 'अशब्दमरूपमस्पर्शम्' (क० उ० ३।१५) इत्यादि श्रुतियाँ निषेध-मुख से ही अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य चिद्घन, आनन्द-सत्स्वरूप ब्रह्म के बोध कराने में सफल और चरितार्थ हो जाती हैं।

## बन्ध का स्वरूप

चित् सम्बन्ध से माया का जो परिणाम होता है, उसे पदार्थ-निरूपण-प्रसङ्ग में पहले ही कह चुके हैं। भूत और भौतिक निखिल जगत्-प्रपञ्च, मूर्त्त, अमूर्त्त और अव्याकृत तीन प्रकार के भेद से जो पहले कह आये हैं, वे सब माया के ही परिणाम हैं। माया और माया के परिणामों के साथ होनेवाला जो चित् का सम्बन्ध है, वही बन्ध है। मैं अज्ञ हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ और मैं शरीरी हूँ—इत्यादि अनेक प्रकार से उसका अनुभव होता है। सुख-दुःख का जितना भी अनुभव होता है, उसका मूल कारण बन्ध ही है। 'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्ति' (छा० उ० ८।१२।१) इस श्रुति का भी यही तात्पर्य है। अर्थात्, जबतक शरीर का सम्बन्ध रहेगा, तबतक प्रिय और अप्रिय का अपहान, अर्थात् नाश नहीं हो सकता। प्रिय, अप्रिय का जो असंस्पर्श है, वही मोक्ष है। जबतक द्वैत दर्शन रहेगा, तबतक किसी प्रकार भी प्रिय और अप्रिय का असंस्पर्श नहीं हो सकता। इसीलिए, आत्मैक्यस्वरूप की सम्पत्ति अपेक्षित होती है। अर्थात्, आत्मैक्यस्वरूप की सम्पत्ति के विना प्रिय और अप्रिय के असंस्पर्श-रूप मोक्ष भी दुर्लभ है। और, आत्मैक्यस्वरूप सम्पत्ति भी कर्म और कर्म-मूलक शरीरादि-सम्बन्ध-रूप पाश-विमोचन के विना दुर्लभ ही है। आत्म-विज्ञान के विना पाश-विमोचन भी दुर्वच ही है। आत्म-विज्ञान भी अधिकार के विना दुर्घट है। इसलिए, अधिकार-प्राप्ति के लिए चित्त-शुद्धि परमावश्यक है। क्योंकि, चित्त-शुद्धि ही, अधिकार के सम्पादन द्वारा मोक्ष की इच्छा को उत्पन्न कर उसके द्वारा आत्म-विज्ञान के प्रतिपन्न करने में सहायक होती है। जबतक चित्त की शुद्धि न हो, तबतक जन्म-साफल्य के लिए निष्काम कर्म अवश्य करते रहना चाहिए। निष्काम कर्म की कर्त्तव्यता के विषय में तीन कल्पों (पक्ष या प्रकार) की कल्पना की जाती है।

प्रथम कल्प—निष्काम कर्म केवल चित्त-शुद्धि का कारण होता है। चित्त-शुद्धि हो जाने पर मोक्ष की इच्छा स्वभावतः हो जाती है। इसके बाद गुरु के उपदेश आदि के द्वारा आत्म-विज्ञान होता है। द्वितीय कल्प—निष्काम कर्म ही चित्त-शुद्धि के द्वारा मोक्ष की इच्छा का कारण होता है। मोक्ष की इच्छा के बाद गुरु के उपदेश आदि से आत्म-विज्ञान होता है। तृतीय कल्प—निष्काम कर्म ही आत्म-विज्ञान का कारण होता है। यह निष्काम कर्म ही चित्त-शुद्धि, मोक्षेच्छा और गुरु के उपदेश आदि के द्वारा आत्म-विज्ञान का सम्पादन करता है। प्रत्येक अवस्था में आत्मैक्य-विज्ञान के बाद द्वैत के दर्शन न होने से लेशतोऽपि कर्म का अवसर नहीं रहता, और किसी काम के लिए कर्म की आवश्यकता भी नहीं रह जाती।

क



ग



घ



च

प

### य



### र



### ल

श



ष



स

# षड्दर्शन-रहस्य

## शुद्धि-पत्र

| | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| ३८ | ३६ | ( जीवात्मा ) आसि | ( जीवात्मा ) अस्मि |
| ४८ | ३३ | तो | तब |
| ५५ | २३ | कणभक्षपक्षसं:घात० | कणभक्षपक्ष: संघात० |
| ५६ | १ | संघादवात | संघातवाद |
| ६३ | २० | शारीरिक | शारीरक |
| ६६ | १४ | वैमासिक | वैभाषिक |
| ७० | २६ | ग्रौर | और |
| ७३ | ७ | मतमें | मत से |
| ७४ | ६ | मत में | मत से |
| ८२ | ३६ | मतिर्थस्य | मतिर्यस्य |
| ८३ | २१ | श्रोत | श्रौत |
| ८४ | ३० | किया गया है | किया है |
| ८६ | १३ | चर्वाक | चार्वाक |
| ८८ | ३१ | नैघृण्य | नैर्घृण्य |
| ९६ | १८ | उ० पू० | पू० उ० |
| ९८ | २९ | उपपादान | उपपादन |
| ९९ | १२ | सर्म | सर्व |
| ९९ | १६ | श्रुतियो | श्रुतियों |
| ९९ | १८ | तादृगेय | तादृगेव |
| ९९ | २७ | द्वो | द्वो |
| ९९ | ३५ | विवर्त्तोगादन | विवर्त्तोपादान |
| १०० | १९ | भेदावास | भेदावभास |
| १०० | ३५ | दूवरा | दूसरा |
| १०२ | ३४ | वाद | बाद |
| १०३ | १ | अशशीरत्व | अशरीरत्व |
| १०३ | १८ | सह । ब्रह्मणा | सह ब्रह्मणा |
| १०४ | १८ | वल्कि | बल्कि |
| १०७ | ४ | कर्मकारयतितं | कर्म कारयति तं |

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| ११६ | १४ | मोक्ष का स्वरूप | मोक्ष का तात्त्विक स्वरूप |
| ११६ | २६ | न्या० ( कु० ४।५-६ ) | न्या० कु० ( ४।५-६ ) |
| ११६ | ३३ (टि०) | सम्बन्धभाव | सम्बन्धाभाव |
| १२० | २३ | अनुमति | अनुमिति |
| १२५ | १४ | अनेकान्तिक | अनैकान्तिक |
| १२६ | ७ | साध्यभाव | साध्याभाव |
| १४० | १७ | सावयत्व | सावयवत्व |
| १४१ | २५ | अकर्त्तुकत्व | अकर्तृकत्व |
| १५१ | ३१ | रूषहानि | रूपहानि |
| १५२ | ३३ | तेजत्व | तेजस्त्व |
| १५४ | २७ | समवायिकरण | समवायिकारण |
| १६२ | ३५ | आकृत्यपमर्दन | आकृत्युपमर्दन |
| २२१ | ६ | गुर्ण | गुण |
| २२७ | २१ | मायवादी | मायावादी |
| २४७ | १२ | ( त्वाल्यप् ) | त्वा ( ल्यप् ) |
| २४८ | ३५ | उपययनपूर्वक | उपनयनपूर्वक |
| २५७ | २३ | स्वीकर | स्वीकार |
| २६० | १ | नित्यानित्यत्व-विचार | शब्द का नित्यानित्यत्व-विचार |
| २६३ | १६ | अत्यन्ता-भाव | अत्यन्ताभाव |
| २७७ | २६ | शारीरिक | शारीरक |
| २७८ | २० | प्रतिपाघ | प्रतिपाद्य |
| २८३ | ३६ | आत्साक्षात्कार | आत्मसाक्षात्कार |
| ३०१ | २५ | निरुढ | निरूढ |
| ३०३ | ५ | प्रतिभासिक | प्रातिभासिक |